श्रमण

अक्टूबर-दिसम्बर १९९२

वर्ष ४३ अंक १०-१२

ोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान सम्पादक

प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक	सह-सम्पादक
डा० अशोक कुमार सिंह	डा० शिव प्रसा[d]

वर्ष ४३ अक्टूबर–दिसम्बर, १९९२ अंक १०-१[2]

प्रस्तुत अंक में

१. जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान —प्रो० सागरमल जैन

२. प्रागैतिहासिक भारत में सामाजिक मूल्य और परम्पराएँ
—डा० जगदीशचन्द्र जैन १

३. जैन एवं बौद्ध दर्शन में प्रमाण-विवेचन
—डा० धर्मचन्द्र जैन २

४. क्षेत्रज्ञ शब्द का स्वीकार्य प्राचीनतम अर्धमागधी रूप
— डा० के० आर० चन्द्र ४

५. अष्टपाहुड़ की प्राचीन टीकाएँ
—डा० महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज' ४

६. पूर्णिमागच्छ—प्रधान शाखा अपरनाम ढंढेरिया शाखा का संक्षिप्त इतिहास —डा० शिवप्रसाद ४९

७. जैन दार्शनिक साहित्य में ईश्वरवाद की समालोचना
—श्रीमती मंजुला भट्टाचार्या ६७

८. पुस्तक समीक्षा ७१

९. पार्श्वनाथ शोधपीठ परिसर ७७

१०. शोक–समाचार ७८

वार्षिक शुल्क — चालीस रुपये
एक प्रति — दस रुपये

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान

- प्रो. सागरमल जैन

यह सत्य है कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति के परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मों और दर्शनों की लोक के स्वरूप एवं सृष्टि सम्बन्धी तथा खगोल-भूगोल सम्बन्धी अनेक प्राचीन मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह लग गये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ प्रबुद्ध जनों ने वैज्ञानिक मान्यताओं को चरम सत्य स्वीकार करके विविध धर्मों की परम्परागत मान्यताओं को काल्पनिक एवं अप्रामाणिक बताना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप अनेक धर्मानुयायिओं की श्रद्धा को ठेस पहुँची और आप्त पुरुषों के वचन या सर्वज्ञ के कथन में अथवा आगमों के आप्तप्रणीत होने में उन्हें सन्देह होने लगा। इस सम्बन्ध में अनेक पत्र-पत्रिकाओं में गवेषणापरक लेखों के माध्यम से पर्याप्त उहा-पोह भी हुआ और दोनों पक्षों ने अपनी बात को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। विशेष रूप से यह बात तब अधिक विवादास्पद विषय बन गई, जब पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा की सफल यात्रा कर ली और उस सम्बन्ध में अनेक ऐसे ठोस प्रमाण प्रस्तुत कर दिए, जो विभिन्न धर्मों की खगोल-भूगोल सम्बन्धी मान्यताओं के विरोध में जाते हैं।

यह सत्य है कि विज्ञान के माध्यम से धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास एवं मिथ्या धारणायें समाप्त हुई हैं, किन्तु जो लोग वैज्ञानिक निष्कर्षों को चरम सत्य मानकर धर्म व दर्शन के निष्कर्षों पर और उनकी उपयोगिता पर चिह्न लगा रहे हैं वे भी किसी भ्रान्ति में हैं। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि कालक्रम में पूर्ववर्ती अनेक वैज्ञानिक धारणायें अवैज्ञानिक बन चुकी है। न तो विज्ञान और न प्रबुद्ध वैज्ञानिक इस बात का दावा करते है कि हमारे जो निष्कर्ष है वे अन्तिम सत्य है। जैसे-जैसे वैज्ञानिक ज्ञान में प्रगति हो रही है वैसे-वैसे वैज्ञानिकों की ही पूर्व स्थापित मान्यताएँ निरस्त होकर नवीन-नवीन निष्कर्ष एवं मान्यताएँ सामने आ रही हैं। अतः आज न तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता है और न पूर्ववर्ती मान्यताओं को पूर्णतः निरर्थक या काल्पनिक कहकर अस्वीकार कर देने में कोई औचित्य है। उचित यही है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जो मान्यताएं निर्विवाद रूप से विज्ञान सम्मत सिद्ध हो रही हैं, उन्हें स्वीकार कर लिया जाय, शेष को भावी वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए परिकल्पना के रूप में मान्य किया जाय। क्योंकि धर्मग्रन्थों मे उल्लेखित जो घटनाएं एवं मान्यताएं कुछ वर्षों पूर्व तक कपोल-कल्पित लगती थी वे आज विज्ञान सम्मत सिद्ध हो रही है। सौ वर्ष पूर्व धर्मग्रन्थों में उल्लेखित आकाशगामी विमानों की बात अथवा दूरस्थ ध्वनियों को सुनपाने और दूरस्थ घटनाओं को देख पाने की बात काल्पनिक लगती थी, किन्तु आज वे यथार्थ बन चुकी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म की ही ऐसी अनेक मान्यतायें हैं, जो कुछ वर्षों पूर्व तक अवैज्ञानिक व काल्पनिक लगती थी, आज विज्ञान से प्रमाणित हो रही है। उदाहरण के रूप में - अन्धकार, ताप, छाया और शब्द आदि पौद्गलिक है - जैन आगमों की इस मान्यता पर विश्वास नहीं करता था, किन्तु आज उनकी पौद्गलिकता सिद्ध हो चुकी है। जैन आगम यह कथन है कि शब्द न केवल पौद्गलिक है, अपितु वह ध्वनि रूप में उच्चरित होकर लो तक की यात्रा करता है, इस तथ्य को कल तक कोई भी स्वीकार नहीं करता था, आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक ध्वनि उच्च होने के बाद अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है और उसकी यह यात्रा, चाहे अत्यन्त क्षीण ही क्यों न हो, लोकान्त तक होती है। जैनों की केवलज्ञान सम्बन्धी यह अवधारणा कि के या सर्वज्ञ समस्त लोक के पदार्थो को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष रूप से जानता है अथवा अवधि सम्बन्धी यह अवधारणा कि अवधिज्ञानी चर्म-चक्षु के द्वारा ग्रहीत नहीं हो रहे दूरस्थ विषय सीधा प्रत्यक्षीकरण कर लेता है -- कुछ वर्षों पूर्व तक यह सब कपोलकल्पना ही लगती किन्तु आज जब टेलीविजन का आविष्कार हो चुका है, यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं है। जिस प्रकार से ध्वनि की यात्रा होती है उसी प्रकार से प्रत्येक भौतिक पिण्ड प्रकाश-किरणें परावर्तित होती है और वे भी ध्वनि के समान ही लोक में अपनी यात्रा करत तथा प्रत्येक वस्तु या घटना का चित्र विश्व में संप्रेषित कर देती है। आज यदि मानव मस्तिष्क टेलीविजन सेट की ही तरह चित्रों को ग्रहण करने की सामर्थ्य विकसित हो जायें, तो दू पदार्थों एवं घटनाओं के हस्तामलकवत् ज्ञान में कोई बाधा नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ प्रकाश व छाया के रूप में जो किरणों परावर्तित हो रही है, वे तो हम सबके पास पहुंच ही है। आज यदि हमारे चैतन्य मस्तिष्क की ग्रहण सामर्थ्य विकसित हो जाय, तो दूरस्थ विषयों ज्ञान असम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन धार्मिक कहे जाने वाले साहित्य भी बहुत कुछ ऐसा है, जो या तो आज विज्ञान सम्मत सिद्ध हो चुका है अथवा जिसके विज्ञान सम्मत सिद्ध होने की सम्भावना अभी पूर्णतः निरस्त नहीं हुई है।

अनेक आगम वचन या सूत्र ऐसे है, जो कल तक अवैज्ञानिक प्रतीत होते थे, वे आज वैज्ञानिक सिद्ध हो रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं, इन सूत्रों की वैज्ञानिक ज्ञान उनके प्रकाश में जो व्याख्या की गयी, वह अधिक समीचीन प्रतीत होती है। उदाहरण के रूप में परमाणुओं के पारस्परिक बन्धन से स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया को समझाने हेतु तत्त्वार्थ सूत्र के पाँच अध्याय का एक सूत्र आता है-- स्निग्धरुक्षत्वात् बन्धः । इसमें स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं के एक दूसरे से जुड़कर स्कन्ध बनाने की बात कही गयी है। सामान्य रूप से इसकी व्याख्या य कहकर ही की जाती थी, कि स्निग्ध (चिकने) एवं रुक्ष (खुरदुरे) परमाणुओं में बन्ध होता किन्तु आज जब हम इस सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं कि स्निग्ध अर्थात् धनात्मक विद्यु से आवेशित एवं रुक्ष अर्थात् ऋणात्मक विद्युत से आवेशित सूक्ष्म-कण-जैन दर्शन की भाषा परमाणु-परस्पर मिलकर स्कन्ध (Molecule) का निर्माण करते हों, तो तत्त्वार्थसूत्र का य सूत्र अधिक विज्ञान सम्मत प्रतीत होता है। इसी प्रकार आचारांग सूत्र में वानस्पतिक जीवन की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणीय जीवन से जो तुलना की गई है, वह आज अधिक विज्ञान सम्मत सिद्ध हो रही है। आचारांग का यह कथन कि वानस्पतिक-जगत् में उसी प्रकार की संवेदनशीलता है जैसी प्राणी-जगत में -- इस तथ्य को सामान्यतया पाश्चात्य वैज्ञानिकों की आधुनिक खोजों के पूर्व सत्य नहीं माना जाता था, किन्तु सर जगदीशचन्द बसु और अन्य जैव-वैज्ञानिकों ने अब इस तथ्य की पुष्टि कर दी है कि वनस्पति में भी प्राणी जगत् की ही तरह ही संवेदनशीलता है। अतः आज आचारांग का कथन विज्ञान सम्मत सिद्ध होता है।

हमें यह बात ध्यान में रखना है कि न तो विज्ञान धर्म का शत्रु है और न धार्मिक आस्थाओं को खण्डित ही करना ही उसका उद्देश्य है, वह जिसे खण्डित करता है वे हमारे तथाकथित धार्मिक अन्धविश्वास होते हैं। साथ ही हमें यह भी समझना चाहिये कि वैज्ञानिक खोजों के परिणामस्वरूप अनेक धार्मिक अवधारणायें पुष्ट ही हुई हैं। अनेक धार्मिक आचार-नियम जो केवल हमारी शास्त्र के प्रति श्रद्धा के बल पर टिके थे, अब उनकी वैज्ञानिक उपयोगिता सिद्ध हो रही है।

जैन परम्परा में रात्रि-भोजन का निषेध एक सामान्य नियम है, चाहे परम्परागत रूप में रात्रि-भोजन के साथ हिंसा की बात जुड़ी हो, किन्तु आज रात्रि भोजन का निषेध मात्र हिंसा-अहिंसा के आधार पर स्थित न होकर जीव-विज्ञान, चिकित्साशास्त्र और आहारशास्त्र की दृष्टि से अधिक विज्ञान सम्मत सिद्ध हो रहा है। सूर्य के प्रकाश में, भोजन के विषाणुओं को नष्ट करने की तथा शरीर में भोजन को पचाने की जो सामर्थ्य होती है, वह रात्रि के अन्धकार में नहीं होती -- यह बात अब विज्ञान सम्मत सिद्ध हो चुकी है। इसी प्रकार सूर्यास्त के बाद भोजन चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से भी अनुचित माना जाने लगा है। चिकित्सकों ने बताया है कि रात्रि में भोजन के बाद अपेक्षित मात्रा में पानी न ग्रहण करने से भोजन का परिपाक सम्यक् रूप से नहीं होता है। यदि व्यक्ति जल की सम्यक् मात्रा का ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसे बार-बार मूत्र-त्याग के लिए उठना होता है, फलस्वरूप निद्रा भंग होती है। नींद पूरी न होने के कारण वह सुबह देरी से उठता है और इस प्रकार न केवल उसकी प्रातःकालीन दिनचर्या अस्त-व्यस्त होती है, अपितु वह अपने शरीर को भी अनेक विकृतियों का घर बना लेता है।

जैनों में सामान्य रूप से अवधारणा थी कि वे अन्नकण जो अंकुरित हो रहे हैं अथवा किसी वृक्ष आदि का वह हिस्सा जहाँ अंकुरण हो रहा है, वे अनन्तकाय है और अनन्तकाय का भक्षण अधिक पापकारी है। आज तक यह एक साधारण सिद्धान्त लगता था, किन्तु आज वैज्ञानिक गवेषणा के आधार पर यह सिद्ध हो रहा है कि जहाँ भी जीवन के विकास की सम्भावनाएं हैं, उसके भक्षण या हिंसा से अनन्त जीवों की हिंसा होती है। क्योंकि जीवन के विकास की वह प्रक्रिया कितने जीवों को जन्म देगी यह बता पाना भी सम्भव नहीं है, यदि हम उसकी हिंसा करते हैं तो जीवन की जो नवीन सतत् धारा चलने वाली थी, उसे ही हम बीच में अवरुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार अनन्त जीवन के विनाश के कर्त्ता सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार मानव का स्वाभाविक आहार शाकाहार है, मांसाहार एवं अण्डे आदि के सेवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से कौन से रोगों की उत्पत्ति होती है आदि तथ्यों की प्रामाणिक जानकारी आधुनिक वैज्ञा खोजों के द्वारा ही सम्भव हुई है। आज वैज्ञानिकों और चिकित्साशास्त्रियों ने अपनी खोजो माध्यम से मांसाहार के दोषों की जो विस्तृत विवेचनाएं की है, वे सब जैन आचारशास्त्र कि वैज्ञानिक है, इसकी ही पुष्टि करते हैं।

इसी प्रकार पर्यावरण की शुद्धि के लिए जैन परम्परा में वनस्पति, जल आदि अनावश्यक दोहन पर जो प्रतिबंन्ध लगाया गया है, वह आज कितना सार्थक है यह बात आ हम बिना वैज्ञानिक खोजों के नहीं समझ सकते। पर्यावरण के महत्त्व के लिए और उसे दू होने से बचाने के लिए जैन आचारशास्त्र की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है इसकी पुष्टि आ वैज्ञानिक खोजों के माध्यम से ही सम्भव हो सकी है। आज वैज्ञानिक ज्ञान के परिणामस्व हम धार्मिक आचार सम्बन्धी अनेक मान्यताओं का सम्यक् मूल्यांकन कर सकते हैं और इ प्रकार विज्ञान की खोज धर्म के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। जैन धर्म एवं दर्शन की जो बातें कल तक अवैज्ञानिक सी लगती थीं, आज वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप सत्य सिद्ध हो रही हैं। अतः विज्ञान को धर्म व दर्शन का विरोधी न मानकर उसका सम्पूरक ही मानना होगा। आज जब हम जैन तत्त्वमीमांसा, जैवविज्ञान और आचारशास्त्र की आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करते हैं, तो हम यही पाते हैं कि विज्ञान ने जैन अवधारणाओं की पुष्टि ही की है।

वैज्ञानिक खोजों के परिणाम स्वरूप जो सर्वाधिक प्रश्न चिन्ह लगे हैं वे जैन धर्म की खगोल व भूगोल सम्बन्धी मान्यताओं पर है। यह सत्य है कि खगोल व भूगोल सम्बन्धी जैन अवधारणायें आज के वैज्ञानिक खोजों से भिन्न पड़ती हैं और आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में उनका समीकरण बैठा पाना भी कठिन है। यहाँ सबसे पहला प्रश्न यह है कि क्या जैन खगोल व भूगोल सर्वज्ञ प्रणीत है या सर्वज्ञ की वाणी है ? इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार की आवश्यकता है।

सर्वप्रथम तो हमें जान लेना चाहिए कि जैन खगोल व भूगोल संबंधी विवरण स्थानांग, समवायांग एवं भगवती को छोड़ कर अन्य अंग आगमों में कही भी उल्लिखित नहीं है। स्थानांग और समवायांग में भी वे सुव्यवस्थित रूप में प्रतिपादित नहीं है, मात्र संख्या के संदर्भ क्रम में उनकी सम्बन्धित संख्याओं का उल्लेख कर दिया गया है। वैसे भी जहाँ तक विद्वानों का प्रश्न है, वे इन्हें संकलनात्मक एवं अपेक्षाकृत परवर्ती ग्रन्थ मानते हैं। साथ ही यह भी मानते हैं कि इनमें समय-समय पर सामग्री प्रक्षिप्त होती रही है, अतः उनका वर्तमान स्वरूप पूर्णतः जिन प्रणीत नहीं कहा जा सकता है। जैन खगोल व भूगोल सम्बन्धी जो अवधारणायें उपलब्ध हैं, उनका आगमिक आधार चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति है, जिन्हें वर्तमान में उपांग के रूप में मान्य किया जाता है, किन्तु नन्दीसूत्र की सूची के अनुसार ये ग्रन्थ आवश्यक व्यतिरिक्त अंग बाह्य आगमों में परिगणित किये जाते हैं। परम्परागत दृष्टि से अंग बाह्य आगमों के उपदेष्टा एवं रचयिता जिन न होकर स्थविर ही माने गये हैं और इससे यह फलित होता है कि ये ग्रन्थ सर्वज्ञ प्रणीत न होकर छद्मस्थ जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं। अतः यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनमें प्रतिपादित तथ्य आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल जाते है, तो उससे सर्वज्ञ की सर्वज्ञता पर आँच नहीं आती है। हमें इस भय का परित्याग कर देना चाहिए कि यदि हम खगोल एवं भूगोल के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक गवेषणाओं को मान्य करेंगे तो उससे जिन की सर्वज्ञता पर कोई आँच आयेगी। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि सर्वज्ञ या जिन केवल उपदेश देते हैं ग्रन्थ लेखन का कार्य तो उनके गणधर या अन्य स्थविर आचार्य ही करते हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सर्वज्ञ के लिए उपदेश का विषय तो अध्यात्म व आचारशास्त्र ही होता है खगोल व भूगोल उनके मूल प्रतिपाद्य नहीं है। खगोल व भूगोल सम्बन्धी जो अवधारणायें जैन परम्परा में मिलती हैं वह थोड़े अन्तर के साथ समकालिक बौद्ध एवं हिन्दू परम्परा में भी पायी जाती है। अतः यह मानना ही उचित होगा कि खगोल एवं भूगोल सम्बन्धी जैन मान्यताएँ आज यदि विज्ञान सम्मत सिद्ध नहीं होती है तो उससे न तो सर्वज्ञ की सर्वज्ञता पर आँच आती है और न जैन धर्म की आध्यात्मशास्त्रीय, तत्वमीमांसीय एवं आचारशास्त्रीय अवधारणाओं पर कोई खरोंच आती है। सूर्यप्रज्ञप्ति जैसा ग्रन्थ जिसमें जैन आचारशास्त्र और उसकी अहिंसक निष्ठा के विरुद्ध प्रतिपादन पाये जाते हैं, किसी भी स्थिति में सर्वज्ञ प्रणीत नहीं माना जा सकता है। जो लोग खगोल-भूगोल सम्बन्धी वैज्ञानिक तथ्यों को केवल इसलिए स्वीकार करने से कतराते हैं कि इससे सर्वज्ञ की अवहेलना होगी, वे वस्तुतः जैन आध्यात्मशास्त्र के रहस्यों से या तो अनभिज्ञ हैं या उनकी अनुभूति से रहित है। क्योंकि हमें सर्वप्रथम तो यह स्मरण रखना होगा कि जो आत्म-द्रष्टा सर्वज्ञ प्रणीत है ही नहीं उसके अमान्य होने से सर्वज्ञ की सर्वज्ञता कैसे खण्डित हो सकती है ? आचार्य कुन्द-कुन्द ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि सर्वज्ञ आत्मा को जानता है, यही यर्थाथ सत्य है। सर्वज्ञ बाह्य जगत् को जानता है यह केवल व्यवहार है। भगवतीसूत्र का यह कथन भी कि 'केवली सिय जाणइ सिय ण जाणइ' -- इस सत्य को उद्घाटित करता है कि सर्वज्ञ आत्म-द्रष्टा होता है। वस्तुतः सर्वज्ञ का उपदेश भी आत्मानुभूति और आत्म विशुद्धि के लिए होता है जिन साधनों से हम शुद्धात्मा की अनुभूति कर सके, आत्म-शुद्धि या आत्म विमुक्ति को उपलब्ध कर सके, वही सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपाद्य है।

यह सत्य है कि आगमों के रूप में हमारे पास जो कुछ उपलब्ध है, उसमें जिन वचन भी संकलित है और यह भी सत्य है कि आगमों का और उनमें उपलब्ध सामग्री का जैनधर्म, प्राकृत साहित्य और भारतीय इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्त्व है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि आगमों के नाम पर हमारे पास जो कुछ उपलब्ध है, उसमें पर्याप्त विस्मरण, परिवर्तन, परिवर्धन और प्रक्षेपण भी हुआ है। अतः इस तथ्य को स्वयं अन्तिम वाचनाकार देवर्द्धि ने भी स्वीकार किया है। अतः आगम वचनों में कितना अंश जिन वचन है -- इस सम्बन्ध में पर्याप्त समीक्षा, सर्तकता और सावधानी आवश्यक है।

आज दो प्रकार की अतियाँ देखने में आती है - एक अति यह है कि चाहे पन्द्रहवीं शती के लेखक ने महावीर-गौतम के संवाद के रूप में किसी ग्रन्थ की रचना की हो, उसे भी बिना समीक्षा के जिन वचन के रूप में मान्य किया जा रहा है और उसे ही चरम सत्य माना जाता है -- दूसरी ओर सम्पूर्ण आगम साहित्य को अन्धविश्वास कहकर नकारा जा रहा है। आज आवश्यकता है नीर-क्षीर बुद्धि से आगम वचनों की समीक्षा करके मध्यम मार्ग अपनाने की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज न तो विज्ञान ही चरम सत्य है और न आगम के नाम पर जो कुछ है वही चरम सत्य है। आज न तो आगमों को नकारने से कुछ होगा और न वैज्ञानिक सत्यों को नकारने से। विज्ञान और आगम के सन्दर्भ में आज एक तटस्थ समीक्षक बुद्धि की आवश्यकता है।

जैन सृष्टिशास्त्र और जैन खगोल-भूगोल में भी, जहाँ तक सृष्टिशास्त्र का सम्बन्ध है, वह आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणाओं के साथ एक सीमा तक संगति रखता है। जैन सृष्टिशास्त्र के अनुसार सर्वप्रथम इस जगत् को अनादि और अनन्त माना गया है, किन्तु उसमें जगत की अनादि अनन्तता उसके प्रवाह की दृष्टि से है। इसे अनादि अनन्त इसलिए कहा जाता है कि कोई भी काल ऐसा नहीं था जब सृष्टि नहीं थी या नहीं होगी। प्रवाह की दृष्टि से जगत् अनादि-अनन्त होते हुए भी इसमें प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश अर्थात् सृष्टि और प्रलय का क्रम भी चलता रहता है, दूसरे शब्दों में यह जगत् अपने प्रवाह की अपेक्षा से शाश्वत होते हुए भी इसमें सृष्टि एवं प्रलय होते रहते हैं क्योंकि जो भी उत्पन्न होता है उसका विनाश अपरिहार्य है। फिर भी इसका सृष्टा या कर्त्ता कोई भी नहीं है। यह सब प्राकृतिक नियम से ही शासित है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से इस पर विचार करे तो विज्ञान को भी इस तथ्य को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि यह विश्व अपने मूल तत्त्व या मूल घटक की दृष्टि से अनादि-अनन्त होते हुए भी इसमें सृजन और विनाश की प्रक्रिया सतत् रूप से चल रही है। यहाँ तक विज्ञान व जैनदर्शन दोनों साथ जाते हैं। दोनों इस संबंध में भी एक मत हैं कि जगत् का कोई सृष्टा नहीं है और यह प्राकृतिक नियम से शासित है। साथ ही अनन्त विश्व में सृष्टि लोक की सीमितता जैन दर्शन एवं विज्ञान दोनों को मान्य है। इन मूल-भूत अवधारणाओं में साम्यता के होते हुए भी जब हम इनके विस्तार में जाते हैं, तो हमें जैन आगमिक मान्यताओं एवं आधुनिक विज्ञान दोनों में पर्याप्त अन्तर भी प्रतीत होता है।

अधोलोक, मध्यलोक एवं स्वर्गलोक की कल्पना लगभग सभी धर्म-दर्शनों में उपलब्ध होती है, किन्तु आधुनिक विज्ञान के द्वारा खगोल का जो विवरण प्रस्तुत किया जाता है, उसमें इस प्रकार की कोई कल्पना नहीं है। वह यह भी नहीं मानता है कि पृथ्वी के नीचे नरक व ऊपर स्वर्ग है। आधुनिक खगोल विज्ञान के अनुसार इस विश्व में असंख्य सौर मण्डल हैं और प्रत्येक सौर मण्डल में अनेक ग्रह-नक्षत्र व पृथ्वियां है। असंख्य सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र की अवधारणा जैन परम्परा में भी मान्य है। यद्यपि आज तक विज्ञान यह सिद्ध नहीं कर पाया है कि पृथ्वी के अतिरिक्त किन ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन पाया जाता है, किन्तु उसने इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक ऐसे ग्रह-नक्षत्र हो सकते है जहाँ जीवन की संभावनाएं है। अतः इस विश्व में जीवन केवल पृथ्वी पर है यह भी चरम सत्य नहीं है। पृथ्वी के अतिरिक्त कुछ ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन की संभावनाएं हो सकती है। यह भी संभव है कि पृथ्वी की अपेक्षा कहीं जीवन अधिक सुखद एवं समृद्ध हो और कहीं वह विपन्न और कष्टकर स्थिति में हो। अतः चाहे स्वर्ग एवं नरक और खगोल एवं भूगोल सम्बन्धी हमारी अवधारणाओं पर वैज्ञानिक खोजों के परिणाम स्वरूप प्रश्न चिन्ह लगे, किन्तु इस पृथ्वी के अतिरिक्त इस विश्व में कहीं भी जीवन की संभावना नही है, यह बात तो स्वयं वैज्ञानिक भी नहीं कहते हैं। पृथ्वी के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिरिक्त ब्रह्माण्ड के अन्य ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन की सम्भावनाओं को स्वीकार करने के साथ प्रकारान्तर से स्वर्ग एवं नरक की अवधारणायें भी स्थान पा जाती है। उड़न तश्तरियों से म्बन्धी जो भी खोजे हुई हैं, उससे इतना तो निश्चित सिद्ध ही होता है कि इस पृथ्वी के तिरिक्त अन्य ग्रह-नक्षत्रों पर भी जीवन है और वह पृथ्वी से अपना सम्पर्क बनाने के लिए त्नशील भी है। उड़न-तश्तरियों के प्राणियों का यहाँ आना व स्वर्ग से देव लोगों की आने की रम्परागत कथा में कोई बहुत अन्तर नहीं है। अतः जो परलोक सम्बन्धी अवधारणा उपलब्ध ती है वह अभी पूर्णतया निरस्त नहीं की जा सकती, हो सकता है कि वैज्ञानिक खोजों के रिणाम स्वरूप ही एक दिन पुनर्जन्म व लोकोत्तर जीवन की कल्पनाएं यथार्थ सिद्ध हो सकें।

जैन परम्परा में लोक को षड्द्रव्यमय कहा गया है। ये षड्द्रव्य निम्न हैं - जीव, धर्म, धर्म, आकाश, पुद्गल एवं काल। इनमें से जीव (आत्मा), धर्म, अधर्म, आकाश व पुद्गल ये च अस्तिकाय कहे जाते हैं। इन्हें अस्तिकाय कहने का तात्पर्य यह है कि ये प्रसरित है। दूसरे दों में जिसका आकाश में विस्तार होता है वह अस्तिकाय कहलाता है। षड्द्रव्यों में मात्र ल को अनास्तिकाय कहा गया है, क्योंकि इसका प्रसार बहुआयामी न होकर एक रेखीय है। हम सर्वप्रथम तो यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि षड्द्रव्यों की जो अवधारणा है वह किस मा तक आधुनिक विज्ञान के साथ संगति रखती है।

षड्द्रव्यों में सर्वप्रथम हम जीव के सन्दर्भ में विचार करेंगे। चाहे विज्ञान आत्मा की स्वतंत्र ता को स्वीकार न करता हो, किन्तु वह जीवन के अस्तित्व से इंकार भी नहीं करता है, कि जीवन की उपस्थिति एक अनुभूत तथ्य है। चाहे विज्ञान एक अमर आत्मा की कल्पना स्वीकार नहीं करे, लेकिन वह जीवन एवं उसके विविध रुपों से इंकार नहीं कर सकता है। -विज्ञान का आधार ही जीवन के अस्तित्व की स्वीकृति पर अवस्थित है। मात्र इतना ही , अब वैज्ञानिकों ने अतीन्द्रिय ज्ञान तथा पुनर्जन्म के सन्दर्भ में भी अपनी शोध यात्रा प्रारम्भ दी है। विचार सम्प्रेषण या टेलीपेथी का सिद्धान्त अब वैज्ञानिकों की रुचि का विषय बनता रहा है और इस सम्बन्ध में हुई खोजों के परिणाम अतीन्द्रिय-ज्ञान की सम्भावना को पुष्ट ते हैं। इसी प्रकार पुनर्जन्म की अवधारणा के सन्दर्भ में भी अनेक खोजें हुई हैं। अब अनेक तथ्य प्रकाश में आये हैं, जिनकी व्याख्याएँ बिना पुनर्जन्म एवं अतीन्द्रिय ज्ञान-शक्ति को कार किये बिना सम्भव नहीं है। अब विज्ञान जीवन धारा की निरन्तरता उसकी अतीन्द्रिय तियों से अपरिचित नहीं है, चाहे अभी वह उनकी वैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत न कर पाया मात्र इतना ही नहीं अनेक प्राणियों में मानव की अपेक्षा भी अनेक क्षेत्रों में इतनी अधिक क-ज्ञान सामर्थ्य होती है जिस पर सामान्य बुद्धि विश्वास नहीं करती है, किन्तु उसे अब नुनिक विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है। अतः इस विश्व में जीवन का अस्तित्व है और वह न अनन्त शक्तियों का पुंज है - इस तथ्य से अब वैज्ञानिकों का विरोध नहीं है।

जहाँ तक भौतिक तत्व के अस्तित्व एवं स्वरूप का प्रश्न है वैज्ञानिकों एवं जैन आचार्यों में क मतभेद नहीं है। परमाणु या पुदगल कणों में जिस अनन्तशक्ति का निर्देश जैन आचार्यों किया था वह अब आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों से सिद्ध हो रही है। आधुनिक वैज्ञानिक इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथ्य को सिद्ध कर चुके हैं कि एक परमाणु का विस्फोट भी कितनी अधिक शक्ति का सृ कर सकता है। वैसे भी भौतिक पिण्ड या पुद्गल की अवधारणा ऐसी है जिस पर वैज्ञानि एवं जैन विचारकों में कोई अधिक मतभेद नहीं देखा जाता। परमाणुओं के द्वारा स्क (Molecule) की रचना का जैन सिद्धान्त कितना वैज्ञानिक है, इसकी चर्चा हम पूर्व में क चुके हैं। विज्ञान जिसे परमाणु कहता था, वह अब टूट चुका है। वास्तविकता तो यह है विज्ञान ने जिसे परमाणु मान लिया था, वह परमाणु था ही नहीं, वह तो स्कन्ध ही था। क्यों जैनों की परमाणु की परिभाषा यह है कि जिसका विभाजन नहीं हो सके, ऐसा भौतिक तत्त्व परमाणु है। इस प्रकार आज हम देखते हैं कि विज्ञान का तथाकथित परमाणु खण्डित हो चु है। जबकि जैन-दर्शन का परमाणु अभी वैज्ञानिकों की पकड़ में आ ही नहीं पाया है। वस्तुत जैन दर्शन में जिसे परमाणु कहा जाता है उसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने क्वार्क नाम दिया है औ वे आज भी उसकी खोज में लगे हुए हैं। समकालीन भौतिकी-विदों की क्वार्क की परिभाषा य है कि जो विश्व का सरलतम और अन्तिम घटक है, वही क्वार्क है। आज भी क्वार्क को व्याख्यायित करने में वैज्ञानिक सफल नहीं हो पाये हैं।

आधुनिक विज्ञान प्राचीन अवधारणाओं को सम्पुष्ट करने में किस प्रकार सहायक हुआ है कि उसका एक उदाहरण यह है कि जैन तत्त्व मीमांसा में एक ओर यह अवधारणा रही है कि एक पुद्गल परमाणु जितनी जगह घेरता है -- वह एक आकाश प्रदेश कहलाता है -- दूसरे शब्दों में मान्यता यह है कि एक आकाश प्रदेश में एक परमाणु ही रह सकता है। किन्तु दूसरी ओर आगमों में यह भी उल्लेख है कि एक आकाश प्रदेश में असंख्यात पुद्गल परमाणु सम सकते हैं। इस विरोधाभास का सीधा समाधान हमारे पास नहीं था। लेकिन विज्ञान ने य सिद्ध कर दिया है कि विश्व में कुछ ऐसे ठोस द्रव्य है जिनका एक वर्ग इंच का वजन लगभग सौ टन होता है। इससे यह भी फलित होता है कि जिन्हें हम ठोस समझते हैं, वे वस्तुतः कितने पोले हैं। अतः सूक्ष्म अवगाहन शक्ति के कारण यह संभव है कि एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु भी समाहित हो जायें।

धर्म-द्रव्य एवं अधर्म-द्रव्य की जैन अवधारणा भी आज वैज्ञानिक सन्दर्भ में अपनी व्याख्याओं की अपेक्षाएँ रखती हैं। जैन परम्परा में धर्मास्तिकाय को न केवल एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है, अपितु धर्मास्तिकाय के अभाव में जड़ व चेतन, किसी की भी गति संभव नहीं होगी-- ऐसा भी माना गया है। यद्यपि जैन दर्शन में धर्मास्तिकाय को अमूर्त द्रव्य कहा गया है, किन्तु अमूर्त होते हुए भी यह विश्व का महत्त्वपूर्ण घटक है। यदि विश्व में धर्म द्रव्य एवं अधर्म द्रव्य, जिन्हें दूसरे शब्दों में हम गति व स्थिति के नियामक तत्त्व कह सकते हैं, न होंगे तो विश्व का अस्तित्व ही सम्भव नहीं होगा। क्योंकि जहाँ अधर्म-द्रव्य विश्व की वस्तुओं की स्थिति को सम्भव बनाता है और पुद्गल पिण्डों को अनन्त आकाश में बिखरने से रोकता है, वहीं धर्म-द्रव्य उनकी गति को सम्भव बनाता है। गति एवं स्थति यही विश्व व्यवस्था का मूल आधार है।

यदि विश्व में गति एवं स्थिति संभव न हो, तो विश्व नहीं हो सकता है। गति के नियमन के लिये स्थिति एवं स्थिति की जड़ता को तोड़ने के लिए गति आवश्यक है। यद्यपि जड़ व चेतन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं गति करने एवं स्थित रहने की क्षमता है, किन्तु उनकी यह क्षमता कार्य के रूप में तभी परिणत होगी जब विश्व में गति और स्थिति के नियामक तत्त्व या कोई माध्यम हो। जैन दर्शन के धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्य को आज विज्ञान के भाषा में ईथर एवं गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के नाम से भी जाना जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि धर्म द्रव्य नाम की वस्तु है तो उसके अस्तित्व को कैसे जाना जायेगा ? वैज्ञानिकों ने जो ईथर की कल्पना की है उसे हम जैन धर्म की भाषा में धर्मद्रव्य कहते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार ईथर को स्वीकार नहीं करते हैं, तो प्रश्न उठता है कि प्रकाश किरणों के यात्रा का माध्यम क्या है ? यदि प्रकाश किरणें यथार्थ में किरण है तो उनका परावर्तन किसी माध्यम से ही सम्भव होगा और जिसमें ये प्रकाश किरणें परावर्तित होती हैं, वह भौतिक पिण्ड नहीं, अपितु ईथर ही है। यदि मात्र आकाश हो, किन्तु ईथर न हो तो कोई गति सम्भव नहीं होगी। किसी भी प्रकार की गति के लिए कोई न कोई माध्यम आवश्यक है। जैसे मछली को तैरने के लिए जल। इसी गति के माध्यम को विज्ञान ईथर और जैन-दर्शन धर्म द्रव्य कहता है।

साथ ही हम यह भी देखते हैं कि विश्व में केवल गति ही नहीं है, अपितु स्थिति भी है। जिस प्रकार गति का नियामक तत्त्व आवश्यक है, उसी प्रकार से स्थिति का भी नियामक तत्त्व आवश्यक है। विज्ञान इसे गुरुत्वाकर्षण के नाम से जानता है, जैन दर्शन उसे ही अधर्म द्रव्य कहता है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में अधर्म द्रव्य को विश्व की स्थिति के लिए आवश्यक माना गया है यदि अधर्म द्रव्य न हो और केवल अनन्त आकाश और गति ही हो तो समस्त पुद्गल पिण्ड अनन्त आकाश में छितर जायेंगे और विश्व व्यवस्था समाप्त हो जायेगी। अधर्म द्रव्य एक नियामक शक्ति है जो एक स्थिर विश्व के लिए आवश्यक है। इसके अभाव में एक ऐसी अव्यवस्था होगी कि विश्व विश्व ही न रह जायेगा। आज जो आकाशीय पिण्ड अपने-अपने यात्रा पथ में अवस्थित रहते है - जैनों के अनुसार उसका कारण अधर्म-द्रव्य है, तो विज्ञान के अनुसार उसका कारण गुरुत्वाकर्षण है।

इसी प्रकार आकाश की सत्ता भी स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि आकाश के अभाव में अन्य द्रव्य किसमें रहेंगे, जैनों के अनुसार आकाश मात्र एक शून्यता नहीं, अपितु वास्तविकता है। क्योंकि लोक आकाश में ही अवस्थित है। अतः जैनाचार्यों ने आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भागों की कल्पना की। लोक जिसमें अवस्थित है वही लोकाकाश है।

इसी अनन्त आकाश के एक भाग विशेष अर्थात् लोकाकाश में अवस्थित होने के कारण लोक को सीमित कहा जाता है, किन्तु उसकी यह सीमितता आकाश की अनन्तता की अपेक्षा से ही है। वैसे जैन आचार्यों ने लोक का परिमाण 14 राजू माना है। जो कि वैज्ञानिकों के प्रकाशवर्ष के समान एक प्रकार का माप विशेष है। यह लोक नीचे चौड़ा, मध्य में पतला पुनः ऊपरी भाग के मध्य में चौड़ा व अन्त में पतला है। इसके आकार की तुलना कमर पर हाथ रखे खड़े हुए पुरुष के आकार से की जाती है। इस लोक के अधोभाग में सात नरकों की अवस्थिति मानी गयी है -- प्रथम नरक से ऊपर और मध्य लोक से नीचे बीच में भवनपति देवों के आवास है। इस लोक के मध्य भाग में मनुष्य एवं तिर्यंचों का आवास है। इसे मध्य लोक या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यक्-लोक कहते हैं। तिर्यक्-लोक के मध्य में मेरु पर्वत है, उसके आस-पास का समुद्र पर्यंत भू-भाग जम्बूद्वीप के नाम से जाना जाता है। यह गोलाकार है। उसे वलयाकार लवण समुद्र घेरे हुए हैं। लवण समुद्र को वलयाकार में घेरे हुए घातकी खण्ड है। उसको वलयाकार में घेरे हुए कालोदधि नामक समुद्र है। उसको पुनः वलयाकार में घेरे हुए पुष्कर द्वीप है। उसके आगे पुनः वलयाकार में पुष्कर-समुद्र है। इनके पश्चात् अनुक्रम से एक के बाद एक वलयाकार में एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप एवं समुद्र हैं। ज्ञातव्य है कि हिन्दू परम्परा में मात्र सात द्वीपों एवं समुद्रों की कल्पना है, जिसकी जैन आगमों में आलोचना की गई है। किन्तु जहाँ तक मानव जाति का प्रश्न है; वह केवल जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड और पुष्करावर्त द्वीप के अर्धभाग में ही उपलब्ध होती है। उसके आगे मानव जाति का अभाव है। इस मध्यलोक या भूलोक से ऊपर आकाश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व तारों के आवास या विमान है। यह क्षेत्र ज्योतिषिक देव क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तारे आदि मेरुपर्वत को केन्द्र बनाकर प्रदक्षिणा करते हैं। इस क्षेत्र के ऊपर श्वेताम्बर मान्यतानुसार क्रमशः 12 अथवा दिगम्बर मतानुसार 16 स्वर्ग या देवलोक हैं। उनके ऊपर क्रमशः ९ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान हैं। लोक के ऊपरी अन्तिम भाग को सिद्ध क्षेत्र या लोकाग्र कहते हैं, यहाँ सिद्धों या मुक्त आत्माओं का निवास है। यद्यपि सभी धर्म परम्पराओं में भूलोक के नीचे नरक या पाताल लोक और ऊपर स्वर्ग की कल्पना समान रूप से पायी जाती है, किन्तु उनकी संख्या आदि के प्रश्न पर विभिन्न परम्पराओं में मतभेद देखा जाता है। खगोल एवं भूगोल का जैनों का यह विवरण आधुनिक विज्ञान से कितना संगत अथवा असंगत है ? यह निष्कर्ष निकाल पाना सहज नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य श्री यशोदेव सूरि जी ने संग्रहणीरत्न-प्रकरण की भूमिका में विचार किया है। अतः इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में न जाकर पाठकों को उसे आचार्य श्री की गुजराती भूमिका एवं हिन्दी व्याख्या में देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

खगोल-भूगोल सम्बन्धी जैन अवधारणा का अन्य धर्मों की अवधारणाओं से एवं आधुनिक विज्ञान की अवधारणा से क्या सम्बन्ध है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में हमें दो प्रकार के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। जहाँ विभिन्न धर्मों में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि को देव के रूप में चित्रित किया गया है, वहीं आधुनिक विज्ञान में वे अनन्ताकाश में बिखरे हुए भौतिक पिण्ड ही हैं। धर्म उनमें देवत्व का आरोपण करता है, किन्तु विज्ञान उन्हें मात्र एक भौतिक संरचना मानता है। जैन दृष्टि में इन दोनों अवधारणाओं का एक समन्वय देखा जाता है। जैन विचारक यह मानते हैं कि जिन्हें हम सूर्य, चन्द्र आदि मानते हैं वह उनके विमानों से निकलने वाला प्रकाश है, ये विमान सूर्य, चन्द्र आदि देवों के आवासीय स्थल है, जिनमें उस नाम वाले देवगण निवास करते हैं।

इस प्रकार जैन विचारकों ने सूर्य-विमान, चन्द्र-विमान आदि को भौतिक संरचना के रूप में स्वीकार किया है और उन विमानों में निवास करने वालों को देव बताया। इसका फलित यह है कि जैन विचारक वैज्ञानिक दृष्टि तो रखते थे, किन्तु परम्परागत धार्मिक मान्यताओं को भी ठुकराना नहीं चाहते थे। इसीलिए उन्होने दोनों अवधारणाओं के बीच एक समन्वय करने का प्रयास किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन ज्योतिषशास्त्र की विशेषता है कि वह भी वैज्ञानिकों के समान इस ब्रह्माण्ड में असंख्य सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व तारागणों का अस्तित्व मानता है। उनकी मान्यता है कि जंबूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं, लवण समुद्र में चार सूर्य व चार चन्द्रमा हैं। धातकी खण्ड में आठ सूर्य व आठ चन्द्रमा हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्वीप व समुद्र में सूर्य व चन्द्रों की संख्या द्विगुणित होती जाती है।

जहाँ तक आधुनिक खगोल विज्ञान का प्रश्न है वह भी अनेक सूर्य व चन्द्र की अवधारणा को स्वीकार करता है। फिर भी सूर्य, चन्द्र आदि के क्रम एवं मार्ग, उनका आकार एवं उनकी पारस्परिक दूरी आदि के सम्बन्ध में आधुनिक खगोल-विज्ञान एवं जैन आगमिक मान्यताओं में स्पष्ट रूप से अन्तर देखा जाता है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारा गण आदि की अवस्थिति सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर भी जैन धर्म दर्शन व आधुनिक विज्ञान में मतैक्य नहीं है। जहाँ आधुनिक खगोल विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा पृथ्वी के अधिक निकट एवं सूर्य दूरी पर है, वहाँ जैन ज्योतिष शास्त्र में सूर्य को निकट व चन्द्रमा को दूर बताया गया है। जहाँ आधुनिक विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा का आकार सूर्य की अपेक्षा छोटा बताया गया वहाँ जैन परम्परा में सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा को बृहत् आकार माना गया है। इस प्रकार अवधारणागत दृष्टि से कुछ निकटता होकर भी दोनों में भिन्नता ही अधिक देखी जाती है।

जो स्थिति जैन खगोल एवं आधुनिक खगोल विज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं में मतभेद की स्थिति है, वहीं स्थिति प्रायः जैन भूगोल और आधुनिक भूगोल की है। इस भूमण्डल पर मानव जाति के अस्तित्व की दृष्टि से ढाई द्वीपों की कल्पना की गयी है -- जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्ध। जैसा कि हमने पूर्व में बताया है जैन मान्यता के अनुसार मध्यलोक के मध्य में जम्बूद्वीप है, जो कि गोलाकार है, उसके आस-पास उससे द्विगुणित क्षेत्रफल वाला लवणसमुद्र है, फिर लवणसमुद्र से द्विगुणित क्षेत्रफल वाला वलयाकार धातकी खण्ड है। धातकी खण्ड के आगे पुनः क्षीरसमुद्र है जो क्षेत्रफल में जम्बूद्वीप से आठ गुणा बड़ा है उसके आगे पुनः वलयाकार में पुष्कर द्वीप है, जिसके आधे भाग में मनुष्यों का निवास है। इस प्रकार एक दूसरे से द्विगुणित क्षेत्रफल वाले असंख्य द्वीप-समुद्र वलयाकार में अवस्थित है। यदि हम जैन भूगोल की अढाई द्वीप की इस कल्पना को आधुनिक भूगोल की दृष्टि से समझने का प्रयत्न करें तो हम कह सकते हैं कि आज भी स्थल रूप में एक से जुड़े हुए अफ्रीका, युरोप व एशिया, जो किसी समय एक दूसरे से सटे हुए थे, मिलकर जम्बूद्वीप की कल्पना को साकार करते है। ज्ञातव्य है कि किसी प्राचीन जमाने में पश्चिम में वर्तमान अफ्रीका और पूर्व में जावा, सुमात्रा एवं आस्ट्रेलिया आदि एशिया महाद्वीप से सटे हुए थे, जो गोलाकार महाद्वीप की रचना करते थे। वही गोलाकार महाद्वीप जम्बूद्वीप के नाम से जाना जाता था। उसके चारों ओर के समुद्र को घेरे हुए उत्तरी अमेरीका व दक्षिणी अमेरीका की स्थिति आती है। यदि हम पृथ्वी को सपाट मानकर इस अवधारणा पर विचार करें तो उत्तर-दक्षिण अमेरिका मिलकर इस जम्बूद्वीप को वलयकार रूप में घेरे हुए प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार आर्कटिका को हम पुष्करार्ध के रूप में कल्पित कर सकते हैं। इस प्रकार मोटे रूप से अढाई द्वीप की जो कल्पना है, यह सिद्ध तो हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाती है, फिर भी जैनों ने जम्बूद्वीप आदि में जो ऐरावत, महाविदेह क्षेत्रों आदि की कल्पना की है वह आधुनिक भूगोल से अधिक संगत नहीं बैठती है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन भूगोल जो जैन, बौद्ध व हिन्दुओं में लगभग समान रहा है, उसकी सामान्य निरीक्षणों के आधार पर ही कल्पना की गई थी, फिर भी उसे पूर्णतः असत्य नहीं कहा जा सकता।

आज हमें यह सिद्ध करना है कि विज्ञान धार्मिक आस्थाओं का संहारक नहीं पोषक भी हो सकता है। आज यह दायित्व उन वैज्ञानिकों का एवं उन धार्मिकों का है, जो विज्ञान व धर्म को परस्पर विरोधी मान बैठें हैं, उन्हें यह दिखाना होगा कि विज्ञान व धर्म एक दूसरे के संहारक नहीं, अपितु पोषक हैं। यह सत्य है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में कुछ ऐसी अवधारणाएँ हैं जो वैज्ञानिक ज्ञान के कारण ध्वस्त हो चुकी है, लेकिन इस सम्बन्ध में हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम तो हमें यह निश्चित करना होगा कि धर्म का सम्बन्ध केवल मानवीय जीवन मूल्यों से है, खगोल के वे तथ्य जो आज वैज्ञानिक अवधारणा के विरोध में है, उनका धर्म व दर्शन से कोई सीधा संबंध नही है। अतः उनके अवैज्ञानिक सिद्ध होने पर भी धर्म अवैज्ञानिक सिद्ध नहीं होता। हमें यह ध्यान रखना होगा कि धर्म के नाम पर जो अनेक मान्यतायें आरोपित कर दी गयी हैं वे सब धर्म का अनिवार्य अंग नहीं है। अनेक तथ्य ऐसे हैं जो केवल लोक व्यवहार के कारण धर्म से जुड़ गये हैं।

आज उनके यर्थाथ स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। भरतक्षेत्र कितना लम्बा चौड़ा है, मेरु पर्वत की ऊंचाई क्या है ? सूर्य व चन्द्र की गति क्या है ? उनमें ऊपर कौन है आदि ? ऐसे अनेक प्रश्न है जिनका धर्म व साधना से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम देखते हैं कि न केवल जैन परम्परा में अपितु बौद्ध व ब्राह्मण परम्परा में भी ये मान्यतायें समान रूप से प्रचलित रही हैं। एक तथ्य और हमें समझ लेना होगा वह यह कि तीर्थंकर या आप्त पुरुष केवल हमारे बंधन व मुक्ति के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं। वे मनुष्य की नैतिक कमियों को इंगित करके वह मार्ग बताते हैं जिससे नैतिक कमजोरियों पर या वासनामय जीवन पर विजय पायी जा सके। उनके उपदेशों का मुख्य संबंध व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास, सदाचार तथा सामाजिक जीवन में शान्ति व सहःअस्तित्व के मूल्यों पर बल देने के लिए होता है। अतः सर्वज्ञ के नाम पर कही जाने वाली सभी मान्यतायें सर्वज्ञप्रणीत है, ऐसा नहीं है। कालक्रम में ऐसी अनेक मान्यताएं आयी जिन्हें बाद में सर्वज्ञ प्रणीत कहा गया। जैन धर्म में खगोल व भूगोल की मान्यतायें भी किसी अंश में इसी प्रकार की है। पुनः विज्ञान कभी अपनी अंतिमता का दावा नहीं करता है अतः कल तक जो अवैज्ञानिक कहा जाता था, वह नवीन वैज्ञानिक खोजों से सत्य सिद्ध हो सकता है। आज न तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता है और न उसे नकारने की। आवश्यकता है विज्ञान और अध्यात्म के रिश्ते के सही मूल्यांकन की।

- निदेशक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी -५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रागैतिहासिक भारत में सामाजिक मूल्य और परम्पराएँ

- डॉ. जगदीशचन्द्र जैन

इस ब्रह्माण्ड में मानव की सृष्टि ने अद्भुत क्रांति मचा दी। उसने अपने अगले पांव उठाकर पिछले पांवों के आधार से चलना शुरु किया। अपने हाथों से वह जी-तोड़ मेहनत करने लगा। बस इतना काफी था।

आदिम मानव के औजारों से अनुमान किया जाता है कि आज से लगभग 5 लाख वर्ष पूर्व वह इस पृथ्वी-मंडल पर आविर्भूत हुआ। 5 लाख वर्ष कुछ कम नहीं होते। पुरा पाषाण-युग में वह हड्डी अथवा पत्थर से औजारों का काम लेता। वेद ग्रन्थों में इन्द्र के वज्रायुध का उल्लेख है जो संभवतः हड्डी अथवा पत्थर का रहा होगा। पुराणों में उल्लेख है कि वृत्र राक्षस का वध करने के लिए दधीचि ऋषि की हड्डियों से बने आयुध का उपयोग किया गया। इसी प्रकार आजमगढ़ और गाजीपुर जिलों में सांप के विषैले नुकीले दांत तथा आरे के आकार की लम्बी और पैनी मछली की हड्डियां मिली हैं जिन्हें पाषाण-युग की आदिम जातियां अपने बाण की नोंक पर रखकर शिकार किया करती थीं।

आदिम मानव का घर नहीं था, वह खानाबदोश था। भोजन की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता फिरता था। उत्पादन पर उसका अधिकार नहीं हुआ था। प्रकृति द्वारा प्रदान किये हुए खाद्य -- फल-फूल, पौधे, पौधों की जड़ें, कीड़े-मकोड़े आदि द्वारा जीवन-निर्वाह किया करता था।

पीकिंग की गुफा में "पीकिंग मानव" के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे हमें आज से 5 लाख वर्ष पूर्व पाषाण-युग की ओर ले जाते हैं। आज से लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व चीन में कछुए की खोपड़ी को गरम-गरम लोहे कीसलाई से दागा जाता और उससे जो खोपड़ी पर दरार पड़ती, उसकी सहायता से भविष्यवाणी की जाती थी। प्रागैतिहासिक काल की दृष्टि से यह तथ्य कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। भारत में आदिम मानव के अस्तित्व के चिह्न उत्तर-पश्चिमी पंजाब के पहाड़ों की तलहटियों में पाये गये हैं।

पुरातनं-काल में भारत का बहुभाग अरण्य, वन और जंगलों से घिरा था। महाभारत में खाण्डव वन के दहन की कथा का उल्लेख है। कुरुक्षेत्र का यह वन इन्द्र के लिए पवित्र था तथा अर्जुन और कृष्ण की सहायता से अग्नि देवता ने इसे जलाकर खाक कर दिया था। मतलब यह कि इस प्रकार जंगलों को जला-जलाकर लोग आवास आदि तैयार किया करते। मगध का प्रदेश भी घने जंगलों से आबाद था। कहा गया है कि आर्यों ने जब पूर्व की ओर प्रस्थान किया तो वे सदानीरा (आधुनिक गंडक) नदी से आगे न बढ़ सके। कारण कि आगे का प्रदेश घने जंगलों से घिरा था। अनेक जातियों के कबीले यहां निवास करते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाहिर है कि जंगलों में रहने वाली इन आदिम जातियों का, जंगल में उगने वाले वृक्ष, पेड़, पौधे, लता वहां रहने वाले पशु, पक्षी, कीट, पतंग तथा आस-पास के पहाड़, पर्वत, नदी, नाले आदि के साथ, घनिष्ठ सम्बन्ध था।

भारत के ऋषि-मुनियों, देवी-देवताओं, पवित्र ग्रंथों आदि की नामावली इस कथन की द्योतक है। ऋषभ, मांडूक्य (उपनिषद्) श्वेताश्वतर (उपनिषद्) तैत्तिरीय (ब्राह्मण), पिप्लाद, औदुंबर, वत्स, गौतम, काश्यप, कौशिक, वाल्मीकि, हयग्रीव, औलूक्य, हलायुध, पशुपति, अरण्यानी, हनुमन्त, गजानन, शुनःशेप, सीता (हल पद्धति) इक्ष्वाकु, मत्स्य, कर्म, बराह आदि अवतार, पार्वती, वंशलता, वृक्षम्लिका, शाबरी आदि विधाएँ, तिलोद्यमा आदि अप्सराएँ ये कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसी प्रकार जैसे नन्दि वृषभ शिव से जुड़ा हुआ है, वैसे ही गरुड़ विष्णु से, हंस सरस्वती से, मूषक गणेश से और मयूर कार्तिकेय से जुड़े हुए हैं। ऐरावत हाथी और ऊंचे कानवाले अथवा उच्च स्वर से हिनहिनाने वाले इन्द्र के घोड़े की गणना मांगलिक पशुओं में की गयी है, अतएव उन्हें पूजा-अर्चना के योग्य बताया है। वृषभ, हाथी, घोड़ा, बानर आदि जैन तीर्थंकरों के चिह्न इसी सम्बन्ध के द्योतक हैं। कल्पवृक्षों की भी यही सार्थकता है। कहते हैं कि पूर्वकाल में कल्पवृक्ष मनुष्य की प्रत्येक इच्छा पूरी करने में सहायक होते थे, उसे किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता था। बिना कुछ किये धरे उसे स्वादिष्ट भोजन, बेश-कीमती वस्त्र, मूल्यवान आभूषण, रहने के लिए सुन्दर घर, घर के काम में आने वाले बर्तन-भण्डे और कर्ण-मधुर संगीत का आस्वादन आदि सभी कुछ अनायास प्राप्त हो जाता था। जैन ग्रन्थों में दस प्रकार के कल्पवृक्षों का उल्लेख है।

इससे पता लगता है कि आदिम समाज का प्रत्येक कबीला किसी-न-किसी पशु, पक्षी, वृक्ष, पौधे या कीट-पतंग से जुड़ा हुआ रहता था। उस पशु-पक्षी आदि को वह पवित्र समझता और उसका भक्षण करना उसके लिए सर्वथा निषिद्ध था। कबीले के इस चिह्न को टोटम, गणचिह्न, गोत्र अथवा कुल नाम से उल्लिखित किया गया है। उदाहरण के लिए, ओरांव जाति के कबीले पशु, पक्षी, मत्स्य, उरग और शाक नामक गोत्रों में विभाजित हैं। ये पशु आदि कभी किसी समय उक्त कबीले को किसी रूप में सहायक हुए होंगे, तभी से इनकी गणना टोटम या गोत्र में की जाने लगी। हिन्दुओं के लिए गोमांस वर्जित है, पड़वल जाति के लोग सांप का तुंबा भक्षण करने से परहेज करते हैं, मोरे जाति के लोग मोर का और सेलार बकरे का मांस नहीं खाते, गोडाबे आम की लकड़ी जलाने के उपयोग में नहीं लेते। छोटा नागपुर के ओरांव कबीले के लोगों का टोटम बानर है जिससे वे अत्यन्त सौहार्दपूर्ण व्यवहार करते हैं और उसे किसी तरह की हानि पहुंचाना, यहाँ तक कि उसे पालतू बनाकर रखना भी हेय मानते हैं। आदिम जातियों के जीवन-विकास में टोटम के महत्व को स्वीकार करते हुए "द स्पीकिंग ट्री" के लेखक रिचर्ड लैनोय ने कहा है -- "टोटम का चिह्न आदिमवासी जातियों का प्रकृति के साथ ऐसा ठोस सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है जैसा कि उनकी जाति-पांति भी नहीं करती।"

इन आदिमवासी कबीलों में प्रचलित उनके रीति-रिवाज, भाई-चारे के सम्बन्ध, कायदे-कानून, नीति-नियम एवं कथानक रूढ़ियां (मोटिफ अथवा अभिप्राय) आदि इतनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विविधता और समृद्धता से ओत-प्रोत हैं कि उन्होंने भारत के प्रागैतिहासिक समाज को असाधारण रूप में प्रभावित किया। उनकी कितनी ही कथा-कहानियां, उनके विश्वास, प्रतीतियां और कथानकों में अन्तर्भूत कथानक-रूढ़ियां एवं अनबूझ पहेलियां आदि द्वारा उत्तरकालीन साहित्य खूब ही समृद्ध बना।

उदाहरण के लिए, आकाश में उड़ना, जड़ी-बूटियों से परिवेष्ठित किसी पर्वत-खण्ड को उठाकर लाना, बहते हुए जल अथवा जलते हुए अंगारों पर चलना, विष-भक्षण से अप्रभावित रहना, कथा के नायक का सदैव अमर बने रहना, मृतक का जीवित हो जाना, मंत्रशक्ति के प्रयोग से रोग का निवारण, दिव्य शक्ति द्वारा राजपद के योग्य व्यक्ति का चुनाव, पक्षियों के सहारे आकाश में उड़कर रत्नों के द्वीप में पहुंचना, शुक, हंस, कपोत अथवा मेघ द्वारा प्रेम का सन्देश प्रेषित करना, गीदड़, कौआ, छिपकली, शुक, गर्दभ, मेढ़ा, मछली आदि का शब्द सुनकर शकुन-अपशकुन का विचार करना आदि कितनी ही कथानक-रूढ़ियों के प्रकार इन कबीलों की कहानियों एवं पहेलियों में पाये जाते हैं जो प्रागैतिहासज्ञों एवं समाजशास्त्रियों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और जिनका अध्ययन कर हम तत्कालीन सामाजिक मूल्यों एवं परंपराओं का बोध प्राप्त करने में सक्षम होते हैं।

लोक-आख्यानों में सन्निहित ये कथानक-रूढ़ियां भले ही देखने और सुनने में असम्भव एवं अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ती हों, पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं। इस प्रकार के लोक-आख्यान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के आख्यानों में उपलब्ध होते हैं जो मानव के आपसी भाई-चारे की ओर इंगित करते हैं। यातुविद्या (जादू की विद्या) का उल्लेख ऋग्वेद में आता है जिसका प्रयोजन झूठ-मूठ असत्य अथवा भ्रांत वातावरण तैयार करना कदापि नहीं। यह विद्या प्रागैतिहासिककालीन समाज के उस दृष्टिकोण की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है जिससे पता लगता है कि आदिमकाल से ही मानव सदैव बुद्धिशाली एवं प्रगतिशील रहा है। इससे ज्ञात होता है कि उपयुक्त संसाधनों का अभाव होने पर भी, मानव अपने बुद्धि-कौशल और अपनी कल्पना-शक्ति के प्रयोग द्वारा, वास्तविक घटनाओं पर नियंत्रण न होने पर भी, नियंत्रण होने का भ्रम पैदा कर, अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने में सक्षम होता है। यातुविद्या को एक प्रकार की "भ्रामक कला" कहा जा सकता है जो मनुष्य की वास्तविक कला-सम्बन्धी निर्बलताओं से जुड़ी हुई है। इस प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण कहे जाने वाले लोक-आख्यान वस्तुतः मानव की कुंठा को अभिव्यक्त करते हैं तथा ये समाज द्वारा लादे हुए प्रतिबन्धों से पलायन करने में एक काल्पनिक साधन का काम करते हैं। (विलियम आर. बैस्कोम, द स्टडी आफ फोकलोर)

अपने कथन के समर्थन में प्राचीन जैन ग्रंथों के आधार से यहां कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :-

1. जैन परम्परा के अनुसार, ऋषभदेव प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती हो गये हैं। उनके पूर्व न कोई राज्य था, न राजा न दण्ड और न दण्ड-विधाता। सभी प्रजाजन अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए सदाचारपूर्वक आनन्द का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन व्यतीत किया करते थे। किसी प्रकार का वैमनस्य अथवा विद्वेष भाव उनमें नहीं था, अतएव आपसी कलह न होने के कारण किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था न थी। कल्पवृक्षों द्वारा उन्हें सभी प्रकार का इहलौकिक सुख प्राप्त था। लेकिन कालान्तर में जब कल्पवृक्षों का प्रभाव घटने लगा और सन्तान को लेकर पारस्परिक कलह में वृद्धि होने लगी तो पहली बार दण्ड-व्यवस्था का विधान आरम्भ हुआ (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 2, आवश्यकचर्णी 553)। महाभारत (शांतिपर्व 50) में भी इसी प्रकार का आख्यान वर्णित है। यहां पृथु को सर्वप्रथम राजा घोषित किया गया है।

इस प्रकार के लोक-आख्यान आदिवासी जातियों में बहुत पहले से प्रचलित थे। संथाली लोक-कथाओं में कहा गया है कि आरम्भ में इस प्रकार का चावल पैदा होता था जिसका छिलका उतारने की आवश्यता नहीं थी तथा कपास के पौधों पर बने-बनाये तैयार कपड़े लगे रहते थे, कपास ओटकर उसकी रूई आदि बनाकर कपड़ा बुनने की जरुरत नहीं थी। लेकिन कालान्तर में किसी कन्या के दुर्व्यवहार के कारण चावल और वस्त्र की अनायास प्राप्ति बन्द हो गयी, कारण कि यह दुर्व्यवहार ठाकुर बाबा को पसन्द न आया।

2. कल्पवृक्षों का प्रभाव कम हो जाने पर, प्रथम राजा ऋषभदेव ने प्रजा को शिक्षा दी :- वे लोग वनस्पति को हाथ से मलकर, उसका छिलका उतारकर भक्षण करें। वनस्पति को सुपाच्य बनाने के लिए, छिलका उतार, उसे पत्तों के बने दोने में पानी में भिगो दें और फिर उसे हाथ या बाँहों की गर्मी में रखकर गरमा लें। तत्पश्चात् जब वृक्षों के संघर्ष से लोगों ने अग्नि पैदा होते हुए देखी तो वे फिर अपने राजा के पास पहुंचे। उन्हें आदेश प्राप्त हुआ कि अग्नि में पचन, प्रकाशन और दहन की शक्ति मौजूद है, उसका उपयोग किया जाये। उन्हें आदेश मिला कि वे लोग मिट्टी के बर्तन तैयार करें और उनमें वनस्पति रख, उसमें पानी डाल, उसे आग पर पकाकर खायें, इससे शरीर स्वस्थ रहेगा। (देखिए, संघदासगणि वाचक, वसुदेवहिं, पृ. 162, पंक्ति 30 से 163, पंक्ति 6, आवश्यकचर्णी 154 आदि)।

अन्न को शरीर की गर्मी से पकाने का रिवाज बहुत पुराना है जो कोटा आदिवासी जाति में पाया जाता है (देखिए एमेन्यू, स्टडीज इन फोक्टेल्स ऑफ इंडिया, जनरल ऑफ अमरीकन ओरिंटियल सोसायटी, 67)।

इससे यही सिद्ध होता है कि इस प्रकार की कितनी ही ऐसी वस्तुएँ हैं जो भारत में रहने वाली आदिमवासी जनजातियों में प्रचलित थीं और हमने उन्हें ग्रहण कर अपनी संस्कृति का एक प्रमुख अंग बना लिया। इस दृष्टि से सचमुच हम इन आदिमवासियों के कितने ऋणी हैं।

प्रागैतिहासिक भारतीय समाज को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं : जब आदिमवासी जातियां अपने कबीलों में रहती थीं तो जाति प्रथा कहां से आ गयी ? यज्ञ-यागों में पशुओं की बलि क्यों दी जाती थी ? और इस प्रथा का अन्त करने में कौन से प्रमुख कारण रहे ? पाषाण-पूजा कहाँ से प्रवेश कर गयी ? नारियल का महत्व क्यों बढ़ गया ? सिन्दूर को क्यों महत्व दिया जाने लगा ? जब सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वरुण, पर्जन्य आदि प्राकृतिक दिव्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[चमकीली, दिव (चमकना)] शक्तियों के दर्शन से आत्मविभोर हुए भारत के आर्यगण सौ शरद ऋतुएं पाकर सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए लालायित थे, तो उनमें इस संसार के प्रति उदासीन वृति की भावना क्यों जागृत हुई ? अहिंसा एवं करुणा का उदय किन सामाजिक परिस्थितियों में हुआ ? आदि-आदि।

इसका उत्तर है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लेकर बदलती हुई परिस्थितियां जिनके अनुसार समय-समय पर मानव ने अपने आपको ढालने का प्रयत्न किया। कितनी अनुकूल परिस्थितियां थीं पहाड़ों और नदियों के इस देश में। उत्तर में हिमालय (हिम का आलय) प्रहरी के रूप में खड़ा हुआ है जो देवों के अधिदेव नीलकंठ शिवजी महाराज और पर्वत-कन्या पार्वती जी की अनुपम क्रीड़ाओं का स्थल रहा है। कल-कल करती हुई सिन्धु (अर्थात् साधारण नदी, आगे चलकर नदी विशेष के अर्थ में प्रयुक्त) नदी का स्वर चारों दिशाओं को गुंजित करता हुआ सुनाई दे रहा है। इस विशाल नदी की विशेषता इस बात से झलकती है कि इसके तट पर बसने वाले आर्यों के कबीले हिन्दू (सिंघ शब्द से) कहलाने लगे। ऋग्वेद के अंतर्गत नदी-स्तुति सूक्त (1075) में सिन्धु नदी को दौड़ने वाली, उपजाऊ, प्राण, घोड़ा, गौ, पिता, माता, संरक्षक, पहरेदार, पर्वत-कन्या आदि विशेषणों से संबोधित कर उसे घोड़ों, रथों, वस्त्रों, ऊन, सुवर्ण आदि से समृद्ध कहा गया है। सप्तसिन्धु (आगे चलकर सात में से केवल पांच ही नदियां रह जाने के कारण पंजाब (यानि पंच+आब) नाम से संबोधित किये जाने वाले इस विशाल देश की अन्य प्रमुख नदियां हैं : सुतुद्रि (=शतद्रु = सौ धाराओं से दौड़ने वाली = सतलज), बिपाश (बिपास = निर्बाध रूप से बहने वाली = व्यास), परुष्णी (इरावती = रावी), असिवनी (कृष्ण =चन्द्रभागा =चन्द्ररेखा = चैनाब), सितस्तां (=झेलम)। इनके अतिरिक्त और भी कितनी ही नदियां इस देश में प्रवाहित होकर इसे उपजाऊ, धन-धान्य आदि से समृद्ध एवं मूल्यवान बनाती हैं : गंगा, यमुना, सरस्वती, सरयू, प्रभा, नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, गंडक, वाघमती और न जाने कौन-कौन।

नदियों की भांति पर्वतों की संख्या भी कुछ कम नहीं। नगाधिराज हिमालय का उल्लेख किया जा चुका है। जैन परम्परा के अनुसार, यह पर्वत आकाशचारी विद्याधरों का क्रीड़ांगन रहा है। जैन मान्यता के अनुसार, जब ऋषभदेव अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर तपस्या में लीन थे, उनके सम्बन्धी नमि और विनमि को उनके समीप आया जान नागराज धरणेंद्र ने कृपा करके उन्हें विद्याएं प्रदान कीं। आगे चलकर विद्याधरों ने अपने नगरों एवं सभा-भवनों में भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित कर उन्हें विशेष सम्मानित किया।

इस प्रकार का दूसरा महत्वपूर्ण पर्वत है सम्मेद शिखर (समाधि-शिखर), जहां कतिपय तीर्थंकरों को छोड़कर शेष ने निर्वाण-पद की प्राप्ति की। इसे मल्ल पर्वत (संभवतः मल्लों का प्रभुत्व होने के कारण) भी कहा जाता है। यह पहाड़ी प्रदेश मुंडा, संथाल, ओरांव और मुइया आदि आदिवासी जातियों से घिरा हुआ है, इसलिए इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। मरंगबुरु अथवा बड़पहाड़ी मुंडा जाति का देवता माना जाता है। यह देवता जादू विद्या का धनी था। कहा जाता है कि संथाल महिलाओं ने चालाकी करके उससे इस विद्या को ले लिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(बोमपास, सी.एच., फकलोर ऑफ संथाल परगना)। पर्वत यात्रा, गिरि यात्रा, नदी यात्रा और उद्यान यात्रा के उल्लेख मिलते हैं, जिससे पता लगता है कि लोग पर्वत, गिरि, नदी तट और बाग-बगीचों में जाकर खाते-पीते, नाचते-गाते और मौज-मजा किया करते थे।

तात्पर्य यह कि भारतीय प्रागैतिहासिक समाज का जीवन सुखद और आनन्दमय था उलझनें उसमें नहीं थीं, रुकावटें नहीं थीं, सब लोग अपना-अपना कर्त्तव्य-पालन करते दया-धर्म को पालते, दानशीलता एवं उदारवृत्ति रखते, मजहब का आग्रह नहीं था, एक-दूसरे को पीछे धकेल कर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति नहीं थी। ऐसी हालत में आश्चर्य नहीं कि वैदिक आर्यों ने "जीवेमं शरदः शतम्" (हम सौ बरस जीयें) का स्वर उद्घोषित किया। सम्भवतः नदियों एवं पर्वतों द्वारा जन्य प्राकृतिक सुषमा से ओत-प्रोत इस देश में हमारे ऋषि-मुनियों ने चिन्तन-प्रधान संस्कृति को जन्म दिया। उन्होंने अपने गम्भीर चिन्तन, मनन और निदिध्यासन द्वारा रहस्यपूर्ण सृष्टि के अनेक रहस्यों, भेदों और मर्मों का उद्घाटन कर जीवन के सामाजिक मूल्यों की परंपरा स्थापित की।

शक, कुषाण, हूण आदि कितनी ही जातियों ने समय-समय पर इस देश में प्रवेश किया चीनी, यूनानी, ईरानी, तुर्की, अफगानी आदि सभ्यताओं से भारत ने टक्कर ली। तमिल, तेलुगु कन्नड, गोंडी (बुन्देलखंड के आस-पास बोली जाने वाली), आदि द्राविड़ी भाषाओं तथा दक्षिण-पूर्व एशियाई (जिनका कभी उत्तर-पूर्वी भारत और हिन्द-चीन में प्राधान्य था) परिवार के अन्तर्गत आने वाली मुंडा (या कोल) और मोन-ख्मेर (अंशतः असम में बोली जाने वाली) आदि बोलियां भारत की सभ्यता और संस्कृति को प्रभावित किये बिना न रहीं। इन बोलियों तथा अन्य बोलियों के कितने ही शब्द-समूह ऐसे हैं जो आगे चलकर भारतीय संस्कृति के प्रमुख अंग बन गये। कुछ उदाहरण :-

(अ) कदली, नारिकेल, तांबूल, अलाबू, शाल्मली आदि शब्द दक्षिण-पूर्व एशियाई बोलियों के शब्द हैं, जिस बोली को प्राग्-आर्य लोग इस्तेमाल करते थे।

(आ) हनुमन्द (हनुमान) : तमिल के "अण्-मन्ति" शब्द से व्युत्पन्न।
ऋग्वेद (1086) में वृषा-कपि के रूप में, संस्कृत रूप "हनुमन्त"।

(इ) स्वस्तिक :- यह परिरूप क्रीट, कैपेडोसिआ, ट्रॉय, लिथुआनिया आदि स्थानों में भी पाया जाता है। कुछ लोग इसे सौर विष्णु के चक्र का संक्षिप्त रूप मानते हैं - इसके चार आरों से सूर्य के गमनागमन का मार्ग सूचित होता है। सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेता जनरल कनिंघम ने इसे लिपि में अंकित सु+अस्ति (स्वस्ति) का द्योतक माना है। मूल रूप से लिथुआनिया-वासी साओ पाउलो (ब्राजिल) की मेरी शिष्या कुमारी गुलबिस इलोना ने मुझे बताया कि इस चिह्न को अग्नि का क्रॉस माना गया है जो प्रकाश, अग्नि, जीवन, स्वास्थ्य एवं समृद्धि का सूचक है। लिथुआनिया के लोकगीतों में इसे आकाश का लुहार मानकर धान्य को पकाने वाला और दानवों को भगानेवाला कहा है। इससे जान पड़ता है कि स्वस्तिक का चिह्न अपने मूल रुप में प्राकृतिक शक्तियों से जुड़ा हुआ था। जनजातियां इसे दिव्य मानकर इससे प्रेरणा प्राप्त किया करती थीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ई) इन्द्र, वरुण, मित्र, नासत्य -- ये चारों ऋग्वेदिक देवता, किंचित् परिवर्तनपूर्वक लगभग ईसा-पूर्व 14वीं शताब्दी में बोघाज-कोइ (एशिया माइनर) के अभिलेखों में उपलब्ध। हिट्टी भाषा में इन्द्र का इन-त-र और वरुण का उ-रु-वन्-अ के रूप में उल्लेख।

वस्तुतः जैसे कहा जा चुका है, हमारी ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक सामाजिक संस्कृति बहुत कर जन-जातियों की संस्कृति पर अवलम्बित है। जन-जाति के गण जो कुछ मेहनत-मशक्कत से उपलब्ध होता, उसे बाँट-बाँटकर खाते, सहयोगपूर्वक मिलजुलकर रहते, भाईचारे का बर्ताव करते, एक-दूसरे को कम से कम कष्ट पहुंचाते। अहिंसा, करुणा एवं मैत्री की उनकी यह प्रवृति हमें विरासत में मिली है जिसकी रक्षा के लिए आज भी हम प्राण पण से प्रयत्नशील हैं। देश की एकता, प्रभुता, अखंडता एवं सत्यनिष्ठा का नारा आज भी हमें सुनाई देता है। हमारे पूर्वजों ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक तत्कालीन समाज के जिन मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है, वे मूल्य और वह परम्परा आज भी हमारे लिए उतनी ही गुणकारी है जितनी पहले थी, बल्कि उससे भी अधिक।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. द वैदिक एज, जिल्द I (हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इंडियन पीपल)
2. सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजिन एण्ड डिवलैपमेंट ऑफ बंगाली लैंगवेज
3. डी.डी. कोसाम्बी, इंडियन हिस्ट्री (ऐन इंट्रोडक्शन टू)
4. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत नैरेटिव लिटरेचर-ओरिजिन एण्ड ग्रोथ
5. जगदीशचन्द्र जैन, भारतीय दर्शन-एक नयी दृष्टि

- भारतीय समाज और ऋषभदेव -- संगोष्ठी १०-११ मार्च, १९९१। ऋषभदेव प्रतिष्ठान एवं बौद्ध विद्या विभाग (दिल्ली विश्वविद्यालय) द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन एवं बौद्ध दर्शन में प्रमाण-विवेचन

- डॉ. धर्म चन्द जैन

नागार्जुन, जयराशिभट्ट एवं श्रीहर्ष को छोड़कर भारतीय दर्शन के फलक पर प्रत्येक दार्शनिक प्रमेयज्ञान के लिए प्रमाण के महत्त्व को निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है। यही कारण है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त-मीमांसा, जैन-बौद्ध आदि समस्त दार्शनिक धाराओं में प्रमाण-शास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण हुआ। बौद्ध एवं जैन दर्शन के विशाल वाङ्मय में हुए प्रमाण-शास्त्रीय-चिन्तन का भारतीय दर्शन में विशिष्ट महत्त्व है। बौद्ध त्रिपिटकों में वाद-विद्या के यत्किंचित् प्रयोग के अतिरिक्त प्रमाण-चर्चा नगण्य हैं। चीनी स्रोत से उपलब्ध 'उपायहृदय' एवं 'तर्कशास्त्र' नामक दिङ्नाग-पूर्व ग्रन्थों में जो प्रमाण-निरूपण मिलता है उसका अधिकांश गौतम के न्यायसूत्र एवं चरक की संहिता से प्रभावित है। वास्तव में दिङ्नाग ही बौद्ध-न्याय के जनक हैं, जिन्होंने 5वीं शती में भारतीय दर्शन में पृथक् प्रमाण-शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रवर्तन किया। दिङ्नाग के अनन्तर उनके सम्प्रदाय में धर्मकीर्ति (620-690 ई.), धर्मोत्तर (700 ई.), अर्चट (8वीं शती पूर्वार्द्ध), प्रज्ञाकर गुप्त (670-724 ई.), शान्तरक्षित (705-764 ई.), कमलशील (8वीं शती) आदि प्रमुख दार्शनिक हुए जिन्होनें बौद्ध दर्शन में प्रमाण-चिन्तन को आगे बढ़ाया। जैन दर्शन में प्रमाण चिन्तन की पूर्ण व्यवस्थित प्रस्तुति का श्रेय भट्ट अकलंक (720-780 ई.) को दिया जाता है। यद्यपि अकलंक से पूर्व जैनागमों में भी प्रमाण-चर्चा बीज रूप में उपलब्ध है, किन्तु वह बौद्ध ग्रन्थ उपायहृदय एवं तर्कशास्त्र की भांति गौतम के न्यायसूत्र एवं चरक की संहिता से प्रभावित है। सिद्धसेन, मल्लवादी क्षमाश्रमण (चतुर्थशती), समन्तभद्र (षष्ठशती), हरिभद्र (सप्तमशती) आदि आगमोत्तर दार्शनिकों की रचनाएँ अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठापक अधिक रही हैं। प्रमाण-चिन्तन में सिद्धसेन के न्यायावतार का अवश्य महत्त्वपूर्ण स्थान है - जिसे जैनदर्शन की प्रमाणविषयक आद्यकृति कहा जा सकता है। सुमति एवं पात्रस्वामी भी अकलंक के पूर्व हुए हैं किन्तु उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। अकलंक एवं उनके उत्तरवर्ती आचार्यों में विद्यानन्दि (775-840 ई.), अनन्तवीर्य (950-990 ई.), वादिराज (1025ई.), अभयदेवसूरि (10वीं शती), प्रभाचन्द्र (980-1065 ई.), वादिदेवसूरि (1086-1169 ई.), हेमचन्द्र (1088-1173 ई.) आदि प्रमुख हैं जिनमें बौद्ध प्रमाण-चिन्तन भी परीक्षित हुआ है। बौद्धों के प्रमाण-परीक्षण के लिए मल्लवादी क्षमाश्रमण (चौथी-पाँचवीं शती) का द्वादशारनयचक्र एवं उस पर सिंहसूरि (सप्तम शती) की टीका भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दार्शनिक परम्परा में बौद्धों का जो संघर्ष न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन के उद्‌भट दार्शनिकों के साथ रहा वह अनेकान्तवादी जैन दार्शनिकों के साथ नहीं देखा जाता। जैन एवं बौद्ध ये दोनों दर्शन श्रमण परम्परा के दर्शन थे, अतः इनका संघर्ष वैदिक परम्परा के साथ अधिक था, परस्पर में कम। फिर भी जैन प्रमाण-शास्त्रीय ग्रन्थों का सूक्ष्मावलोकन किया जाय तो आठवीं से बारहवीं शती के ग्रन्थ बौद्ध प्रमाणमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा के खण्डन से अटे पड़े हैं। बौद्धों में भी धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित एवं अर्चट के ग्रन्थों में जैन-मत परीक्षित हुआ है। यहाँ पर हम इन दोनों दर्शनों के प्रमाण विषयक चिन्तन पर विचार करेगें।

प्रमाण-लक्षण

श्रमण संस्कृति के परिचायक जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शन प्रमाण को ज्ञानात्मक मानते हैं। नैयायिकों को अभीष्ट इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, सांख्य सम्मत इन्द्रियवृत्ति, मीमांसकाभिमत ज्ञातृव्यापार आदि को ये दोनों दर्शन अज्ञानात्मक होने के कारण प्रमाण नहीं मानते हैं।[2] इनके मत में सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि वह ही हेय एवं उपादेय अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ होता है तथा वही अर्थप्रापक, प्रवर्तक या संवादक होता है। प्रमाण को ज्ञानात्मक, मानते हुए भी तत्वमीमांसा की भिन्नता के कारण दोनों दर्शनों के प्रमाण-स्वरूप में अनेक मौलिक मतभेद हैं।

बौद्धदर्शन में प्रमाण-लक्षण का निरूपण तीन प्रकार से मिलता है। प्रथम प्रकार में अज्ञात अर्थ के ज्ञापक या प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। द्वितीय प्रकार में अविसंवादी ज्ञान को तथा तृतीय प्रकार में अर्थसारूप्य को प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। प्रथम प्रकार के प्रमाण-लक्षण का सर्वप्रथम उल्लेख दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय की विशालामलवती टीका में 'अज्ञातार्थ-ज्ञापकमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्' के रूप में मिलता है[3] जिसे धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा' कथन के द्वारा पुष्ट किया है[4]। द्वितीय प्रमाण-लक्षण 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्' का निरूपण धर्मकीर्ति ने किया है[5] जिसके अनुसार अविसंवादक ज्ञान प्रमाण है। अविसंवादक शब्द का अर्थ यहाँ अभ्रान्त नहीं है, क्योंकि भ्रान्तज्ञान भी कदाचित् अनुमान के रूप में प्रमाण होता है[6]। अविसंवादक शब्द का अर्थ है -- अर्थक्रियास्थिति।[7] अर्थक्रियास्थिति से आशय अर्थप्रापण की योग्यता है। धर्मोत्तर ने न्यायबिन्दुटीका में अविसंवादक शब्द की व्याख्या में प्रकट किया है कि जिस प्रकार लोक में पूर्व प्रदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाला पुरुष संवादक कहलाता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने द्वारा प्रदर्शित या अवबोधित अर्थ को प्राप्त कराने के कारण संवादक कहा जाता है[8]। प्राप्त कराने का अर्थ प्रवर्तक होना नहीं है, अपितु प्रवृत्ति के विषय का बोध कराना मात्र है।[9] संक्षेप में कहें तो धर्मकीर्ति के मत में अर्थक्रिया में समर्थवस्तु का प्रदर्शक ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

अज्ञातार्थज्ञापक एवं अविसंवादी ज्ञानरूप लक्षणों को धर्मकीर्त्ति के वृत्तिकार मनोरथनन्दी ने परस्पर सापेक्ष प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार प्रमाण अविसंवादी होने के साथ अज्ञात अर्थ का प्रकाशक होता है तथा अज्ञात अर्थ का प्रकाशक होने के साथ अविसंवादक भी होता है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो पीतशंख ज्ञान विसंवादक होने पर भी अज्ञात अर्थ का प्रकाशक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने से प्रमाण हो जाएगा तथा धारावाहिक ज्ञान अविसंवादक होने से अज्ञातार्थ का प्रकाशक न होने पर भी प्रमाण हो जाएगा।[10] धर्मकीर्त्ति के एक अन्य टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त ने अज्ञातार्थ प्रकाशक ज्ञान रूप प्रमाण-लक्षण को पारमार्थिक लक्षण एवं अविसंवादी ज्ञान रूप प्रमाण-लक्षण को सांव्यवहारिक लक्षण बतलाया है।[11]

प्रमाण के तृतीय लक्षण 'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्' का निरूपण तब हुआ है[12] जब प्रमाण का उसके फल से भेद प्रदर्शित किया गया है। बौद्ध दार्शनिकों ने अर्थाधिगति को फल एवं अर्थसारूप्य को प्रमाण बाह्यार्थवाद की दृष्टि से निरूपित किया है। विज्ञानवाद के अनुसार योग्यता को प्रमाण एवं स्वसंवित्ति को फल कहा गया है।[13] अर्थसारूप्य को प्रमाण एवं अर्थाधिगति को फल बतलाकर बौद्ध दार्शनिकों ने व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव के द्वारा प्रतिनियत अर्थ के ज्ञान की व्यवस्था निरूपित की है।[14] जैन दार्शनिकों ने अर्थसारूप्य का निरसन कर ज्ञान में प्रतिनियत अर्थ का व्यवस्थापक होने की स्वतः योग्यता स्वीकार की है।[15] उन्होंने ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ की कारणता का भी प्रतिषेध किया है तथा ज्ञानावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम को ज्ञान की उत्पत्ति में प्रमुख कारण स्वीकार किया है।[16]

जैन दार्शनिक प्रमाण को ज्ञानात्मक मानने के साथ उसे निश्चयात्मक भी मानते हैं। निश्चयात्मकता अथवा व्यवसायात्मकता ही जैन दार्शनिकों के प्रमाण का प्रमुख लक्षण है जो उसे बौद्धदर्शन में प्रतिपादित प्रमाण-लक्षण से पृथक् करता है। जैनदर्शन में सामान्यरूप से जो प्रमाण-लक्षण प्रतिष्ठित हुआ है उसके अनुसार स्व एवं पर अर्थ का निश्चायक ज्ञान प्रमाण है।[17] वही प्रमा का कारण भी है।[18] जैनदार्शनिकों ने इसे सम्यग्ज्ञान[19], तत्त्वज्ञान[20], स्वपराभासिज्ञान[21] आदि शब्दों में भी प्रकट किया है। प्रमाण को उन्होने संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित निरूपित किया है।[22] यह विद्वद् विदित है कि जैनागमों में निरूपित मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों को ही जैन दार्शनिकों ने प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। नन्दीसूत्र, भगवतीसूत्र, षट्खण्डागम, अनुयोगद्वार सूत्र आदि ग्रन्थों में ज्ञान का विशद एवं विस्तृत विवेचन है। वहाँ पर सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन पूर्वक होने वाले ज्ञान को सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्यात्व पूर्वक होने वाले ज्ञान को मिथ्याज्ञान या अज्ञान बतलाया गया है। प्रमाण-मीमांसा के क्षेत्र में जैन दार्शनिकों ने इसे किंचित् संशोधन रूप में प्रस्तुत कर संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान एवं इनसे युक्त ज्ञान को मिथ्याज्ञान या अप्रमाण बतलाया है।[23]

प्रमाण-लक्षण का प्रतिपादन करने में जैन दार्शनिकों पर बौद्ध-लक्षणों का भी प्रभाव रहा है। इसका स्पष्ट निदर्शन स्वयं अकलंक हैं। अकलंक ने अष्टशती में बौद्धों के अज्ञातार्थज्ञापक एवं अविसंवादक ज्ञान रूप लक्षणों का समन्वय करके 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्' रूप में जैन प्रमाण-लक्षण निरूपित किया[24], तदनुसार अनधिगत अर्थ का ज्ञान कराने के कारण अविसंवादक ज्ञान प्रमाण होता है। जैन न्याय के प्रतिष्ठापक अकलंक द्वारा अनधिगतग्राही ज्ञान को प्रमाण-लक्षण में स्थान देने का परिणाम यह हुआ कि विद्यानन्दि को छोड़कर अन्य दिगम्बर जैन दार्शनिक प्रमाण-लक्षण में अपूर्व, अनधिगत आदि विशेषणों का ग्रहण करते रहे। माणिक्यनन्दी द्वारा प्रदत्त लक्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' में प्रयुक्त अपूर्व शब्द इसका स्पष्ट उदाहरण है।[25] प्रभाचन्द्र ने भी प्रमाण को कथंचित् अपूर्व अर्थ का ग्राहक, सिद्ध किया है।[26] विद्यानन्दि ने अपूर्व या अनधिगत विशेषण को व्यर्थ बतलाकर स्व एवं अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।[27] श्वेताम्बर जैन दार्शनिकों ने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व एवं अनधिगत पदों का ग्रहण नहीं किया है क्योंकि उनके मत में गृहीतग्राही ज्ञान भी प्रमाण है। हेमचन्द्र ने ग्रहीष्यमाण के समान गृहीत के ग्राही ज्ञान को भी प्रमाण प्रतिपादित कर उसके अनधिगतग्राहित्व विशेषण का निरसन किया है।[28]

वस्तुतः अनधिगत विषय के ग्राहकत्व को प्रमाण का विशेषण बनाना अकलंक पर तत्कालीन श्रमण संस्कृति की अन्य दार्शनिक धारा अर्थात् बौद्धों का प्रभाव है। इसीलिए अपने एक अन्य टीका ग्रन्थ तत्त्वार्थवार्तिक में उन्होंने स्वयं अज्ञात अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण मानने का खण्डन किया है तथा दीपक का दृष्टान्त देकर ज्ञात अर्थ के प्रकाशक ज्ञान को भी प्रमाण सिद्ध किया है।[29] अकलंक ने लघीयस्त्रय में प्रमाण का एक ऐसा लक्षण दिया है जिसमें अनधिगत या अपूर्व पद का प्रयोग नहीं कर 'आत्मा एवं अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण' कहा है।[30] यही जैन दर्शन में प्रमाण का मुख्यलक्षण बनकर प्रतिष्ठित हुआ है।

भारतीय दर्शन में बौद्धों के अतिरिक्त मीमांसकों ने भी प्रमाण को अनधिगत अर्थ का ग्राहक प्रतिपादित किया है। बौद्ध एवं मीमांसकों में पहले अनधिगतार्थगन्तृता को प्रमाण का लक्षण किसने प्रतिपादित किया इस विषय में अभी तक स्पष्ट मत सामने नहीं आया है। श्चेरवात्स्की आदि विद्वान् इस विषय में मौन हैं किन्तु डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का मत है कि संभवतः बौद्ध प्रभाव से मीमांसकों ने उनके प्रमाण लक्षण में अनधिगतार्थगन्तृता को स्थान दिया।[31] उनका यह मत उचित प्रतीत होता है क्योंकि शबरस्वामी तक मीमांसा दर्शन में प्रमाण का यह लक्षण नहीं मिलता है, दूसरी बात यह है कि मीमांसा दर्शन की तत्त्वमीमांसा इसके अनुकूल नहीं है। यही कारण है कि प्रमाण के अनधिगतार्थगन्तृत्व लक्षण का खण्डन नैयायिकों एवं जैन दार्शनिकों ने प्रायः मीमांसकों को लक्ष्य करके किया है, बौद्धों को लक्ष्य करके नहीं। लक्षण साम्य के कारण वह खण्डन बौद्धों पर भी लागू हो जाता है।

निरंश क्षणिकवादी बौद्धों की तत्त्वमीमांसा को स्पष्ट करने के लिए प्रमाण को अज्ञातार्थज्ञापक मानना उपयुक्त हो सकता है, किन्तु नित्यानित्यवादी जैन दार्शनिकों के मत में प्रमाण गृहीत अर्थ का भी ग्राही होता है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि को प्रमाण मानना इसका पोषक तथ्य है।

बौद्धदर्शन में निरूपित द्वितीय लक्षण 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' का जहाँ तक प्रश्न है, अकलंक से लेकर हेमचन्द्र तक सभी जैनदार्शनिक अविसंवादक शब्द से विरोध प्रकट नहीं करते हैं किन्तु बौद्ध तत्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा में उसकी अनुपपन्नता सिद्ध करते हैं। जैन दार्शनिकों ने अविसंवादक शब्द को जैन प्रमाण लक्षण में भी घटित किया है।[32] अविसंवादक शब्द का अर्थ जैन दार्शनिक अकलंक ने प्रमाणान्तरों से अबाधित एवं पूर्वापर विरोध से रहित ज्ञान को अविसंवादक कहा है।[33] इसी अर्थ में जैन दर्शन में अविसंवादक का अभीष्ट है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविसंवादकता को जैन दार्शनिक निर्णयात्मकता के अधीन मानते हैं। निर्णयात्मकता के होने पर ही उनके अनुसार अविसंवादकता संभव है और निर्णयात्मकता के अभाव में अविसंवादकता का भी अभाव रहता है।[34] अकलंक के अनुसार जिस ज्ञान में जितने अंश में अविसंवादकता है, वह ज्ञान उतने अंश में प्रमाण है। तिमिररोगी को होने वाले द्विचन्द्र ज्ञान में चन्द्रांश प्रमाण एवं द्वित्वांश अप्रमाण है।[35]

जैनदार्शनिकों ने बौद्धों के अविसंवादक ज्ञान रूप प्रमाण-लक्षण का जो खण्डन किया है वह बौद्ध तत्त्वमीमांसा की पारमार्थिक दृष्टि पर आधारित है। बौद्धों की निरंश क्षणिकवादी तत्त्वमीमांसा में दृश्य एवं प्राप्य क्षण अत्यन्त भिन्न होते हैं, अतः उनमें प्रमाण की अविसंवादकता सिद्ध नहीं की जा सकती। बौद्ध मत में दृष्ट अर्थ की प्राप्ति अविसंवादकता कहलाती है, जबकि प्रत्यक्ष द्वारा दृष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता, कोई अन्य ही अर्थ प्राप्त होता है। वस्तुतः बौद्ध दार्शनिक प्रमाण को सांव्यवहारिक दृष्टि से अविसंवादी मानते हैं जबकि जैन दार्शनिकों का तर्क है कि अविसंवादकता पारमार्थिक दृष्टि से भी होनी चाहिए तभी अविसंवादक ज्ञान को प्रमाण का सामान्यलक्षण प्रतिपादित किया जा सकता है। बौद्धों द्वारा निरूपित प्रत्यक्ष की भांति अनुमान प्रमाण भी जैन दृष्टि में अविसंवादक नहीं है क्योंकि वह भ्रान्त ज्ञान है एवं अवस्तुभूत सामान्यलक्षण को विषय करके स्वलक्षण का अध्यवसाय करता है।

प्रमाण-भेद

जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शन संख्या की दृष्टि से यद्यपि दो ही प्रमाण स्वीकार करते हैं, तथापि उनमें गहरा मतभेद है। बौद्धमत में प्रत्यक्ष एवं अनुमान ये दो प्रमाण हैं जबकि जैनदार्शनिक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष के रूप में प्रमाण-द्वय का कथन करके परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क, अनुमान एवं आगम इन पाँच प्रमाणों का समावेश कर लेते हैं। इस प्रकार जैनमत में प्रमाणों की संख्या छह हो जाती है। इनमें प्रत्यक्ष एवं अनुमान तो दोनों सम्प्रदायों को स्वीकृत हैं किन्तु स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क का प्रामाण्य केवल जैन दार्शनिकों को अभीष्ट है, बौद्धों को नहीं। आगम या शब्द का प्रामाण्य बौद्धों ने भी स्वीकार किया है किन्तु वे इसका अपोह द्वारा अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव कर लेते हैं, पृथक् प्रमाण के रूप में स्थान नहीं देते। जैनदार्शनिकों ने शब्द या आगम को अनुमान से पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

बौद्ध दार्शनिक प्रमाणव्यवस्थावादी हैं। उनके यहाँ प्रत्येक प्रमेय के लिए भिन्न प्रमाण का होना आवश्यक माना गया है। इसलिए दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि प्रमाण दो ही हैं - 1. प्रत्यक्ष एवं 2. अनुमान। कम एवं अधिक नहीं, क्योंकि प्रमेय भी दो ही हैं - स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण। स्वलक्षण प्रमेय प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है तथा सामान्यलक्षण प्रमेय अनुमान प्रमाण का विषय।[36]

जैन दार्शनिकों ने प्रमेय के आधार पर प्रमाणों की संख्या का निर्धारण नहीं किया है क्योंकि जैनमत में प्रमेय एक ही प्रकार का है वे समस्त प्रमेय को सामान्य विशेषात्मक स्वीकार कर उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक रूप मानते हैं।[37] उस एकविध प्रमेय का ज्ञान करने के लिए ही जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि अनेक प्रमाणों का निरूपण करते हैं। इस प्रकार जैन दार्शनिक प्रमाण संप्लववादी हैं।

प्रत्यक्ष-प्रमाण

प्रत्यक्ष-प्रमाण के लक्षण को लेकर जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों में गहरा मत-भेद है। बौद्धदार्शनिक प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक प्रतिपादित करते हैं तो जैनदार्शनिक प्रमाण को निश्चयात्मक स्वीकार करने के कारण सविकल्प सिद्ध करते हैं।

दिङ्नाग ने 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'[38] उद्घोष के साथ प्रतिपादित किया कि नाम, जाति, क्रिया, द्रव्य आदि की योजना रूप कल्पना से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। दिङ्नाग प्रणीत लक्षण में अभिधर्मकोश व्याख्या के 'चक्षुर्विज्ञानसमंगी नीलं विजानाति नो तु नीलमिति' तथा 'अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञीति' वाक्य महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। धर्मकीर्ति को प्रदिङ्नागय लक्षण अपर्याप्त प्रतीत हुआ अतः उन्होंने 'अभ्रान्त' पद का और सन्निवेश पर 'तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्' के रूप में तथा लक्षण देकर कल्पना रहित एवं अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा।[39] दिङ्नाग नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य आदि की शब्दयोजना करने को कल्पना मानते हैं[40] किन्तु धर्मकीर्ति उनसे भी एक चरण आगे बढ़कर अभिलाप अर्थात् वाचक शब्द के संसर्ग योग्य प्रतिभासप्रतीति को ही कल्पना कह देते हैं।[41] अभ्रान्त शब्द के सन्निवेश का औचित्य बतलाते हुए धर्मकीर्ति का कथन है कि कभी कोई ज्ञान कल्पना रहित होते हुए भी इन्द्रियविकार के कारण भ्रान्त हो सकता है, उस भ्रान्त ज्ञान का निराकरण करने के लिए अभ्रान्त पद का प्रत्यक्ष-लक्षण में सन्निवेश आवश्यक है।[42] धर्मोत्तर ने अभिलापसंसर्गयोग्य प्रतीति की व्याख्या करते हुए अर्थसन्निधि से निरपेक्ष अनियताकार प्रतिभास को अभिलापसंसर्गयोग्य प्रतिपादित किया है तथा विकल्प या कल्पना को अर्थ से अनुत्पन्न कहकर उसका प्रत्यक्ष से व्यावर्तन किया है।[43]

बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय स्वलक्षण है। स्वलक्षण अनभिधेय होता है। वह शब्द विविक्त अर्थ होता है। उसमें वाच्यवाचक भाव नहीं होता। वाच्यवाचक भाव का स्वीकार बौद्धों ने सामान्यलक्षण में किया है। किन्तु धर्मोत्तर का मत है कि स्वलक्षण में भी वाच्य वाचक भाव संभव है और उसकी वाच्य-वाचकता को स्वीकार करके ही प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ कहा गया है।[44] स्वलक्षण का इन्द्रिय ज्ञान नियत प्रतिभास वाला होने से अभिलाप के संसर्ग योग्य नहीं होता, अतः निर्विकल्पक होता है।[45]

जैनदार्शनिकों ने बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की धज्जियां उड़ाकर प्रत्यक्ष को सविकल्पक, विशद, अर्थसाक्षात्कारी एवं निश्चयात्मक सिद्ध किया है। चौथी-पाँचवी शती के महान् जैनदार्शनिक मल्लवादी ने दिङ्नाग-प्रणीत प्रत्यक्ष को निरूपणात्मक होने से आलम्बन प्रत्यय के विपरीत प्रतिपत्त्यात्मक होने से, अध्यारोपात्मक होने से, सामान्यरूप विषयात्मक होने से, सत् एवं असत् दोनों का अभेद ग्राहक होने से सविकल्पक सिद्ध किया है तथा हेत्वन्तर से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

य होने के कारण उसे व्यपदेश्य बतलाया है। अभिधर्मकोश के वाक्यों 'चक्षुर्विज्ञानसमंगी नीलं जानाति नो तु नीलमिति' एवं 'अर्थेऽर्थसंज्ञी न त्वर्थे धर्मसंज्ञीति' का भी मल्लवादी ने खण्डन र प्रत्यक्ष में विकल्पात्मकता सिद्ध की है।[46] बौद्ध मत में प्रत्यक्ष को अनेकार्थजन्य एवं र्थसामान्य गोचर प्रतिपादित किया गया है।[47] मल्लवादी ने इन दोनों को आधार बनाकर द्ध लक्षण को अनुपपन्न सिद्ध किया है।[48] तार्किक शिरोमणि मल्लवादी ने दिङ्नागीय प्रत्यक्ष निरसन करने हेतु जो तर्क दिए हैं उनका खण्डन किसी भी उत्तरवर्ती बौद्ध दार्शनिक ने नहीं या है। अकलंक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को स्वलक्षणों में भेद का व्यवस्थापक नहीं मानते हैं तथा से अविशद, अनिश्चयात्मक, विसंवादी एवं संव्यवहार के लिए अनुपयोगी सिद्ध करते हैं। द्यानन्दि, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष के विषय को सांश सामान्य विशेषात्मक प्रतिपादित करके भी प्रत्यक्ष को सविकल्पक एवं निश्चयात्मक सिद्ध किया है। जैन दार्शनिकों ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का निरसन करते हुए कल्पना की अन्य कोटियाँ प्रस्तुत की हैं, यथा - अस्पष्टाकार प्रतीति, गृहीतग्राहिता, अध्यवसायात्मकता, असत् में र्तकता, समारोप की अनिषेधकता, संव्यवहारानुपयोगिता, स्वलक्षणाविषयकता, शब्दजन्यता आदि। इनका भी खण्डन कर जैनदार्शनिकों ने प्रत्यक्ष में निश्चयात्मकता एवं जात्यादिविशिष्ट अर्थ की ग्राहकता रूप में सविकल्पकता सिद्ध की है।[49]

जैनदार्शनिकों ने बौद्ध प्रत्यक्ष को परमाणु संघात एवं स्वलक्षण समूह से उत्पन्न होने के कारण भी सविकल्पक सिद्ध किया है। जैन दार्शनिक प्रतिपादित करते हैं कि समस्त कल्पनाओं के संहार की अवस्था में भी स्थिर, स्थूल अर्थ का प्रतिभास होता है और वह प्रतिभास शब्द संसर्ग योग्य होता है इसलिए वह भी सविकल्पक ही है।[50] स्वलक्षण अर्थ को जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा स्वलक्षण परमाणुओं का अध्यवसाय नहीं होता, अपितु सामान्यविशेषात्मक अर्थ का अध्यवसाय होता है। वैशेषिकों की भाँति जैनदर्शन में सामान्य एवं विशेष दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं, अपितु प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है। वहाँ सामान्य विशेष से व्यतिरिक्त नहीं होता तथा विशेष सामान्य से व्यतिरिक्त नहीं होता।

बौद्ध प्रत्यक्ष-प्रमाण की आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदार्शनिकों के मत में प्रत्यक्ष-प्रमाण विशदात्मक होने के साथ सविकल्पात्मक एवं व्यवसायात्मक होता है तथा वही संवादक एवं अर्थक्रिया में प्रवर्तक भी। बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक अथवा निश्चयात्मक नहीं होता है, इसलिए उसकी संवादकता और अर्थक्रिया में प्रवर्तकता भी संदिग्ध है। जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष को सविकल्पक मुख्यरूप से उसकी निश्चयात्मकता, अभिलाप संसर्गयोग्यता एवं ज्ञानात्मकता के कारण प्रतिपादित किया है। जो ज्ञान निश्चयात्मक होता है उसका सविकल्पक होना आवश्यक है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक विकल्पात्मक ज्ञान निश्चयात्मक भी हो। एक प्रश्न बौद्ध प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता को लेकर सहज ही उठता है कि एक ओर बौद्ध दार्शनिक प्रमाण को ज्ञानात्मक मानते हैं तो दूसरी ओर प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक स्वीकार करते हैं। ज्ञानात्मकता के साथ निर्विकल्पकता संभव नहीं है। ज्ञान मानसिक प्रत्यय के सिवाय कुछ नहीं है। मानसिक प्रत्यय को यदि विकल्प कहा जाता है तो ऐसा कोई ज्ञानात्मक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जो विकल्पात्मक नहीं हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में निरूपित प्रत्यक्ष-लक्षण को क्रमिक विकास की दृष्टि से दो धाराओं में रखा जा सकता है - 1. प्राचीन आगमिक धारा एवं 2. प्रमाण-व्यवस्थायुगीनधारा। प्राचीन आगमिक धारा के अनुसार इन्द्रिय, मन आदि की सहायता के बिना आत्मा में स्वतः ज्ञानावरण के क्षय या क्षयोपशम से जो ज्ञान प्रकट होता है वह प्रत्यक्ष है[51]। इन्द्रियादि की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। द्वितीयधारा के दार्शनिकों ने जैनेतर दार्शनिकों के साथ प्रमाण चर्चा में भाग लेने के लिए इन्द्रिय एवं मन द्वारा होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर उसे प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में स्थापित किया।[52] पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप में मात्र-आत्म सापेक्ष ज्ञान को रखा।[53]

पारमार्थिक एवं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में समान रूप से लागू होने वाले प्रत्यक्ष-लक्षण का प्रतिपादन करते हुए समस्त जैन दार्शनिक एकमत से विशद या स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।[54] वह विशद ज्ञान प्रमाण होने से स्व एवं अर्थ का निश्चायक तो होता ही है। प्रत्यक्ष में विशदता की व्याख्या करते हुए भट्ट अकलंक अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा अधिक प्रकाशकता को ही विशदता मानते है[55], किन्तु विशदता की यह व्याख्या तुलनात्मक दृष्टिकोण को लिए हुए हैं। अनुमान आदि प्रमाणों का ज्ञान नहीं हो तब तक प्रत्यक्ष की विशदता को नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार प्रत्यक्ष-लक्षण में निरूपित विशदता की व्याख्या अनुमानाद्याश्रित होने से दोषपूर्ण है। माणिक्यनन्दी ने ज्ञानान्तर के व्यवधान से रहित विशेष रूपेण प्रकाशकता को विशदता कहा है।[56] आचार्य हेमचन्द्र ने विशदता को प्रकट करने वाली एक नवीन विशेषता का प्रतिपादन किया है और वह है - इदन्तया प्रतिभास।[57] हम स्मृति रहित इदन्तया प्रतिभास को प्रत्यक्ष कह सकते हैं, स्मृतियुक्त इदन्तया प्रतिभास प्रत्यभिज्ञान में भी हो सकता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में अवग्रह एवं ईहाज्ञान में इदन्तया प्रतिभास तो होता है किन्तु निश्चयात्मकता नहीं होती। जैन दार्शनिक निश्चयात्मकता के बिना किसी ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं, तथापि आगम-दृष्टि से मतिज्ञान के भेदों में अवग्रह एवं ईहा का समावेश होने से उन्हें प्रमाण मान लिया गया है।

बौद्ध दार्शनिकों ने जैन प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन नहीं किया किन्तु उसके विषय सामान्यविशेषात्मक का शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में विस्तृत खण्डन कर स्वलक्षण अर्थ का स्थापन किया है।[58] मूल रूप से स्फुटता या विशदता का स्वीकार दोनों दर्शनों में है। दूसरी बात यह है कि सामान्यविशेषात्मक अर्थ का खण्डन कर बौद्ध दार्शनिक परोक्ष-रूप से जैन प्रमाण-व्यवस्था का भी खण्डन कर देते हैं।

शब्दयोजना रहित शुद्ध प्रत्यक्ष की दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष समीचीन प्रतीत होता है किन्तु प्रमाण द्वारा अर्थक्रिया में प्रवृत्ति या हेयोपादेय के ज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर वह सर्वथा अनुपयोगी एवं अव्यवहार्य प्रतीत होता है तथा जैन सम्मत सविकल्पक प्रत्यक्ष उपयोगी एवं व्यवहार्य प्रतीत होता है। बौद्ध सम्मत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष इसलिए भी अव्यवहार्य एवं काल्पनिक है क्योंकि उसका विषय स्थूल एवं स्थिर दृष्टिगोचर होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले पदार्थ नहीं अपितु निरन्तर गतिशील एवं सूक्ष्म असाधारण स्वलक्षण अर्थ हैं, जिनका किसी भी पुरुष को प्रत्यक्ष होता हुआ दिखाई नहीं देता है। 'तत्रानेकार्थजन्यत्वात्', 'स्वार्थे सामान्यगोचरम्' आदि वाक्य स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं कि अनेक स्वलक्षण मिलकर ही दृश्य होते हैं अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। अनेक स्वलक्षणों का समुदाय सामान्य है। सामान्य में इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है अतः उसे कथमपि निर्विकल्पक नहीं कहा जा सकता।

अनुमान-प्रमाण

न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शनों के समान जैनदर्शन में अनुमान प्रमाण को प्रत्यक्ष के समान यथार्थ विषय का ग्राहक प्रतिपादित किया गया है, जबकि बौद्ध दर्शन में अनुमान-प्रमाण का विषय प्रत्यक्ष की भांति परमार्थसत् नहीं अपितु अवस्तुभूत एवं कल्पित सामान्यलक्षण है। अवस्तुभूत सामान्यलक्षण को विषय करने के कारण धर्मकीर्ति ने अनुमान प्रमाण को भ्रान्त ज्ञान कहा है। भ्रान्त होते हुए भी वे प्रमाता के अभिप्राय का अविसंवादक होने के कारण उसे प्रमाण मानते हैं।[59] उनके अनुसार समस्त भ्रान्त ज्ञान प्रमाण नहीं होते, अपितु जो भ्रान्त ज्ञान अर्थक्रिया में अविसंवादक सिद्ध होता है वही अनुमान प्रमाण कहा गया है।[60] अनुमान की प्रमाणता के लिए उनके द्वारा प्रदत्त मणिप्रभा एवं प्रदीपप्रभा का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।[61] मणिप्रभा एवं प्रदीपप्रभा दोनों में मणिबुद्धि होना यद्यपि भ्रान्त ज्ञान है, तथापि मणिप्रभा की ओर दौड़ने वाले पुरुष को मणि की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार जिस भ्रान्त ज्ञान से स्वलक्षण अर्थ की प्राप्ति होती है वह अविसंवादक होने से प्रमाण माना जाता है।

जैनदार्शनिकों के अनुसार बौद्ध सम्मत अनुमान-प्रमाण की अविसंवादकता सिद्ध नहीं है। विद्यानन्दि ने धर्मकीर्ति द्वारा प्रदत्त मणिप्रभा एवं प्रदीपप्रभा के दृष्टान्त का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि मणिप्रभा से मणि की प्राप्ति रूप संवादकता को प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न प्रमाण मानना होगा क्योंकि मणिप्रभा में मणिबुद्धि होना भ्रान्तज्ञान है इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसे अनुमान प्रमाण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि मणिप्रभा दर्शन में लिंग और लिंगी के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है। लिंग एवं लिंगी का ज्ञान हुए बिना अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता।[62]

साधन से साध्य का ज्ञान होना अथवा लिंग से अनुमेय अर्थ का ज्ञान होना अनुमान है। अनुमान का यह सामान्यलक्षण जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शनों को समान रूप से मान्य है किन्तु बौद्धों ने अनुमान प्रमाण को त्रिरूपलिंगजन्य माना है[63] जबकि जैनों ने इसका खण्डन करके एक रूप अविनाभावी हेतु से अनुमान को प्रमाण सिद्ध किया है। बौद्धमत में त्रिरूप हेतु के बिना कोई भी भ्रान्तज्ञान अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व रूप त्रिरूपता से सम्पन्न हेतु ही बौद्धमत में अनुमान को प्रमाण बनाता है। इसीलिए शान्तरक्षित एवं कमलशील ने त्रिरूपलिंग युक्त संवादक ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहा है।[64] कमलशील कहते हैं कि जो ज्ञान त्रिरूपलिंग से उत्पन्न होता है वह पारम्पर्येण स्वलक्षण वस्तु से प्रतिबद्ध होता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए वह प्रत्यक्ष के समान अविसंवादक होने से प्रमाण है।[65] इस प्रकार त्रिरूपलिंगजन्य ज्ञान विकल्पात्मक एवं भ्रान्त होकर भी अविसंवादक होने के कारण बौद्धदर्शन में अनुमान प्रमाण के रूप में अभीष्ट है।

जैनदार्शनिकों ने बौद्ध सम्मत अनुमान-प्रमाण में अविसंवादकता स्वीकार नहीं की है क्योंकि उसके ग्राह्यविषय सामान्यलक्षण से उसका अध्यवसेय विषय स्वलक्षण एकदम भिन्न है। ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषयों की भिन्नता संवादकता सिद्ध नहीं करती। विद्यानन्दि बौद्ध अनुमान का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अनुमान का आलम्बन प्रत्यय सामान्तलक्षण जब अवस्तुभूत है तो उससे प्राप्त स्वलक्षण वास्तविक नहीं हो सकता।[66]

दिङ्नाग ने अनुमान प्रमाण के स्वार्थ एवं परार्थ भेदों का प्रतिपादन भारतीय दर्शन में पहली बार किया जो जैनों द्वारा भी आदृत हुए। जैनेतर एवं बौद्धेतर अर्थात् श्रमणेतर दर्शनों ने भी उन्हें अपनाया। न्यायदर्शन के पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट भेदों का अनुयोगद्वारसूत्र, उपायहृदय आदि ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है[67] किन्तु स्वार्थ एवं परार्थ भेदों के प्रतिष्ठित होने के अनन्तर पूर्ववत् आदि अनुमान-त्रय को जैन-बौद्ध ग्रन्थों में प्रायः स्थान नहीं मिला।

जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों में अनुमान-प्रमाण के सम्बन्ध में सबसे अधिक विवाद हेतुलक्षण को लेकर है। बौद्ध दार्शनिक हेतु में पक्षधर्मत्व, समक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व इन तीन रूपों का होना आवश्यक मानते हैं। जो हेतु इन तीन रूपों से युक्त नहीं होता उसे वे असद् हेतु अथवा हेत्वाभास कहते हैं। धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में त्रैरूप्य का प्रतिपादन अवधारणार्थक एवं (ही) शब्द का प्रयोग करते हुए इस प्रकार किया है – 'त्रैरूप्यं पुनर्लिंगस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एवं सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्'[68] अर्थात् (1) हेतु का अनुमेय अर्थ में होना ही निश्चित हो (2) हेतु का सपक्ष में होना ही निश्चित हो तथा (3) हेतु का असपक्ष अथवा विपक्ष में नहीं होना ही निश्चित हो। हेतु के ये तीन रूप क्रमशः असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक दोषों का परिहार करते हैं, अतः त्रैरूप्य को ही बौद्धमत में हेतु का लक्षण अंगीकार किया गया है।[69]

जैनदार्शनिकों की यह दृढ़ धारणा रही है कि हेतु का एक ही लक्षण है और वह है -- उसका साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव।[70] वे त्रिरूपता के अभाव में भी अविनाभाव के बल पर पूर्वचर, उत्तरचर आदि हेतुओं को सद्हेतु के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं तथा त्रैरूप्य के सद्भाव से युक्त एवं अविनाभाव से रहित हेतु को हेत्वाभास सिद्ध करते हैं। यथा- गर्भस्थ मैत्रीपुत्र श्यामवर्ण है क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, उसके अन्य पुत्रों के समान। यहाँ मैत्रीपुत्रत्व हेतु गर्भस्थ पुत्र रूप पक्ष में विद्यमान है, मैत्री के अन्य पुत्रों रूप सपक्ष में विद्यमान है तथा विपक्ष में अन्य स्त्रियों के गौरवर्ण पुत्रों में विद्यमान नहीं है। इस प्रकार तीन रूपों से युक्त होने पर भी मैत्रीपुत्रत्व हेतु साध्याविनाभाविता के अभाव के कारण असद् हेतु है। गौतमानुयायी नैयायिक भी इसे औपाधिक सम्बन्ध के कारण हेत्वाभास मानते हैं। वे साध्य के साथ हेतु का स्वाभाविक सम्बन्ध आवश्यक मानते हैं। वही जैन दर्शन में अविनाभाव के रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध भी मैत्रीपुत्रत्व हेतु को असद् हेतु मानते हैं। वे लिंग का साध्य में स्वभ्भव-प्रतिबन्ध स्वीकार करते हैं। यह स्वभाव-प्रतिबन्ध ही जैन दर्शन में अविनाभाव है।

बौत्रों के त्रैरूप्य-लक्षण का खण्डन करने वाले जैन दार्शनिकों में पात्रस्वामी अथवा पात्रकेसरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने इसके लिए पृथक् रचना 'त्रिलक्षणकदर्थन' का निर्माण किया जो सम्प्रति अनुपलब्ध है, किन्तु बौद्ध नैयायिक शान्तरक्षित ने सत्त्वसंग्रह में पात्रस्वामी के निरसन को पूर्वपक्ष में रखा है।[71] पात्रस्वामी की एक कारिका त्रैरूप्य-खण्डन के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध है जिसे समस्त जैनदार्शनिकों ने अपनाया है एवं बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने भी उसे उद्धृत किया है, वह है -

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ?
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ?[72]

इसका आशय है कि जिस हेतु में साध्य के साथ अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) है वहाँ त्रिरूपता का कोई प्रयोजन नहीं है तथा जिस हेतु में अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है उसमें भी त्रिरूपता का प्रतिपादन निरर्थक है।

वस्तुतः जैनदार्शनिकों का हेतु में त्रैरूप्य के सद्भाव से कोई विरोध नहीं है, अपितु त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानने से विरोध है। वे त्रिरूपता को हेतु का असाधारण लक्षण मानने को तैयार नहीं है क्योकि उसके अभाव में भी कृत्तिकोदय आदि हेतु मात्र अविनाभावित्व के कारण शकटोदय साध्य का ज्ञान करा देते हैं। इसके लिए जैन दार्शनिकों ने क्रमभाव एवं सहभाव के रूप में अविनाभाव को दो प्रकार का निरूपित किया हैं।[73]

बौद्धों ने हेतु के तीन भेद प्रतिपादित किये हैं -- 1. स्वभाव 2. कार्य एवं 3. अनुपलब्धि।[74] बौद्ध दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत हेतु-भेद मौलिक है क्योंकि उन्होनें स्वभाव एवं अनुपलब्धि को भी हेतु-भेदों में रखा है, जो उनके पूर्ववर्ती किसी भी दर्शन में उपलब्ध नहीं होते हैं। मीमांसकों द्वारा पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिपादित अभाव का ज्ञान बौद्ध दार्शनिक उनुपलब्धि हेतु द्वारा करके उसका अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव कर लेते हैं। स्वभाव हेतु बौद्धदार्शनिकों का नया प्रतिपादन है, जिसे जैन दार्शनिकों ने भी अपनाया है। जैन दार्शनिकों के हेतु-भेद प्रतिपादन में बौद्धों के अतिरिक्त न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शनों का भी प्रभाव रहा। हेतु-भेदों को लेकर बौद्धदर्शनिकों से जैन दार्शनिकों का स्थूल मतभेद यह है कि बौद्ध दार्शनिक जहाँ स्वभाव एवं कार्य हेतु को विधिसाधक तथा अनुपलब्धि हेतु को निषेधसाधक के प्रतिपादित करते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक समस्त हेतुओं को विधि एवं निषेधसाधक रूप में प्रस्तुत करते हैं।[75]

जैनदार्शनिकों ने बौद्ध मन्तव्य के विरुद्ध कारण, पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं का स्थापन किया है जो जैन दार्शनिकों की सांव्यवहारिक दृष्टि का परिचायक अधिक है, और साध्याविनाभाव रूप हेतु लक्षण की कठोर अनुपालना का कम। जैन हेतु-लक्षण के अनुसार हेतु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्य के अभाव में नहीं रहता है जबकि कारण, कार्य की उत्पत्ति न होने तक उसके अभाव में भी रह सकता है। पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतुओं का प्रयोग निश्चित घटनाक्रम में उपयोगी है किन्तु पूर्ण तार्किक दृष्टि से उनकी हेतुता सिद्ध नहीं है। सहचर हेतु भी लोकव्यवहार के अतिरिक्त कोई तार्किक वैशिष्ट्य नहीं रखता। हेतु संख्या की अभिवृद्धि की ओर उन्मुखता ही जैनदर्शन में नये हेतुओं को जन्म देती रही।

व्याप्ति के स्वरूप को लेकर जैन दार्शनिकों का बौद्धों से कोई मतभेद नहीं है। दोनों दर्शनों में अविनाभावनियम को व्याप्ति स्वीकार किया गया है। बौद्ध-दर्शन में इसे स्वभाव-प्रतिबन्ध के रूप में भी निरूपित किया गया है।[76] बौद्ध दार्शनिकों ने व्याप्ति का निमित्त--तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति को माना है[77] किन्तु लोकव्यवहाराभिमुख जैन दार्शनिक इन दोनों सम्बन्धों से व्याप्ति का होना स्वीकार नहीं करते हैं। जैनदार्शनिकों ने योग्यता सम्बन्ध से ही हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति प्रतिपादित की है[78] तथा उसे सहभावी एवं क्रमभावी अविनाभाव के रूप में विभक्त कर उसमें साध्य के गमक समस्त हेतुओं को समाहित कर लिया है, जो जैन दार्शनिकों की व्यापक एवं लौकिक व्यवहार की दृष्टि को स्पष्ट करता है।

प्रमाण को ज्ञानात्मक मानने वाले बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों ने वचनात्मक परार्थानुमान को उपचार से प्रमाण माना है।[79] बौद्ध दार्शनिक प्रायः हेतु एवं दृष्टान्त को परार्थानुमान का अवयव मानते हैं किन्तु धर्मकीर्ति ने विद्वानों के लिए केवल एक हेतु को ही परार्थानुमान का अवयव स्वीकार किया है।[80] जैन दार्शनिकों ने प्रतिपाद्य पुरुष की योग्यता के अनुरूप एक, दो एवं पाँच अवयवों का प्रतिपादन किया है।[81] अत्यधिक व्युत्पन्न पुरूषों के लिए धर्मकीर्ति की भांति केवल हेतु को, सामान्य व्युत्पन्न पुरूषों के लिए प्रतिज्ञा एवं हेतु को तथा मंदमति पुरूषों के लिए उदाहरण, उपनय एवं निगमन को मिलाकर पाँच अवयव स्वीकार किए गये हैं।[82] जैन दार्शनिकों ने प्रतिज्ञा या पक्षवचन को आवश्यक अवयव मानकर बौद्धमत का खण्डन किया है। बौद्धों के अनुसार हेतु का पक्ष में रहना अनिवार्य माना गया है, इसलिए वे संभवतः पक्ष का पृथक् कथन करना आवश्यक नहीं मानते हैं, जबकि जैन दार्शनिक हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक नहीं मानते हैं इसलिए वे परार्थानुमान में पक्ष का कथन करना आवश्यक मानते हैं। दृष्टान्त के पृथक् कथन की बौद्ध एवं जैन दोनों आवश्यकता अनुभव नहीं करते हैं। बौद्धों ने हेतुलक्षण में ही दृष्टान्त का समावेश कर लिया है जबकि जैन दार्शनिक उसका हेतुलक्षण में समावेश नहीं करते हुए भी उसे पृथक् अवयव नहीं मानते हैं। दृष्टान्त के स्वरूप एवं भेदों में दोनों दर्शनों में वैमत्य नहीं है। साधर्म्य एवं वैधर्म्य भेद दोनों दर्शनों में समान रूप से स्वीकृत हैं। जैनदार्शनिकों ने दृष्टान्ताभास के भेदों में धर्मकीर्ति का अनुसरण करते हुए भी यथाप्रसंग बौद्धमत का खण्डन किया है।

जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शनों में असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास मान्य हैं। जैनदर्शन में अकलंक, मणिक्यनन्दी आदि ने अकिंचित्कर नामक चतुर्थ हेत्वाभास का भी प्रतिपादन किया है।[83] बौद्ध दार्शनिक जहाँ त्रैरूप्य के अभाव में तीन हेत्वाभासों का प्रतिपादन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं वहाँ जैन दार्शनिकों ने अविनाभावलक्षण से ही समस्त हेत्वाभासों को फलित कर लिया है। बौद्ध एवं जैन दर्शन में हेत्वाभासों की पुष्टि में दिए गए उदाहरण एक दूसरे पर आक्षेप अवश्य करते हैं। हेत्वाभासों के उत्तरकालीन निरूपण में न्याय-वैशेषिक दार्शनिक भासर्वज्ञ की कृति न्यायसार का भी प्रभाव है।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम-प्रमाण

जैनदार्शनिक परम्परा में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम की प्रमाणरूप में प्रतिष्ठा उसका बौद्ध प्रमाण-परम्परा से स्पष्ट पार्थक्य द्योतित करती है। बौद्ध दार्शनिक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को अज्ञातार्थज्ञापक नहीं होने के कारण अप्रमाण मानते हैं तथा आगम का अपोह द्वारा अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव कर लेते हैं।[85] जैन दार्शनिकों ने स्मृति आदि को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करने हेतु अपनी पूरी शक्ति लगायी है।

बौद्ध दार्शनिकों ने स्मृति को, असत् को विषय करने के कारण अर्थ से अनुत्पन्न होने के कारण, अनवस्था दोष की प्रसक्ति होने के कारण एवं विसंवादक होने के कारण प्रमाण नहीं माना है।[86] उनका मंतव्य है कि स्मृति को प्रमाण मानने पर इच्छा, द्वेष आदि को भी प्रमाण मानना होगा किन्तु जैनमतानुसार इच्छा, द्वेष आदि अप्रमाण हैं क्योंकि वे अविसंवादक एवं ज्ञानात्मक नहीं है। जैन-दर्शन में वही स्मृति प्रमाण हैं जो अविसंवादक हैं, व्यवहार में उपयोगी है तथा जिसका फल प्रत्यभिज्ञान हैं।[87] जैनदर्शन में स्मृति प्रमाण का स्थापन करते हुए जैनदार्शनिक कहते हैं कि लिंग एवं लिंगी की स्मृति के बिना अनुमान प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकता।[88] ऐसा कोई दार्शनिक नहीं हो सकता जो स्मृति का प्रामाण्य स्वीकार किए बिना लिंग द्वारा लिंगी का ज्ञान कर सके। यह अवश्य है कि स्मृति के समय प्रमाता के समक्ष अर्थ विद्यमान नहीं होता एवं स्मृति प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात अर्थ में वैशिष्ट्य भी नही लाती किन्तु स्मृति को स्व एवं अर्थ का प्रकाशक होने से, अर्थक्रिया में प्रवर्तक होने से, अविसंवादक व्यवहार का कारण होने से तथा व्यवसायात्मक ज्ञान रूप होने से प्रमाण माना जा सकता है। स्मृति को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित कर जैनदार्शनिकों ने 'प्रामाण्यं व्यवहारााद्धि' कथन को चरितार्थ कर दिया है। वस्तुतः हमारा समस्त व्यवहार स्मृति पर आधारित है। भाषा का प्रयोग, लेन-देन का व्यवहार आदि भी स्मृति के बिना संभव नहीं है। यही नहीं स्मृति के अभाव में कोई व्यक्ति किसी निश्चित कार्य के लिए निश्चित समय पर प्रवृत्त भी नहीं हो सकता।

प्रत्यभिज्ञान को भी जैन दार्शनिक अविसंवादक, वास्तविक अर्थ का ग्राहक, स्व एवं अर्थ का निश्चायक तथा बाधक प्रमाण का अभाव होने से पृथक प्रमाण मानते हैं।[89] प्रत्यभिज्ञान द्वारा जैन दार्शनिकों ने एकत्व, सादृश्य, विलक्षणता एवं प्रतियोगिता के ज्ञान का प्रकाशन स्वीकार किया है[90] जो उपमान प्रमाण द्वारा संभव नहीं है। उपमान-प्रमाण से मात्र सादृश्य या संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध ही गृहीत होता है। प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष जैसा भासता है किन्तु प्रत्यक्ष से प्रत्यभिज्ञान का यह अन्तर है कि प्रत्यभिज्ञान में स्मृति निहित रहती है, जबकि प्रत्यक्ष में स्मृति का अंश नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तर्क को व्याप्ति ग्राहक मानकर जैन दार्शनिकों ने स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान की भांति पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। बौद्ध ग्रन्थों में तक्कि, विमंसी आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है, किन्तु तर्क की पृथक् चर्चा नहीं की गयी है। न्यायदर्शन में तर्क को षोडश पदार्थों में स्थान दिया गया है किन्तु जैनदर्शन में प्रतिष्ठित तर्क प्रमाण उससे भिन्न है। जैन दर्शन में तर्क को व्याप्ति का अवधारणात्मक ज्ञान माना गया है। तर्क के द्वारा जैन दार्शनिकों ने त्रैकालिक व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार किया है,[91] जो उनके चिन्तन की गहनता को स्पष्ट करता है। न्यायदार्शनिकों ने व्याप्ति का ग्रहण सामान्यलक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्ष से किया है, बौद्धों ने प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से किया है,[92] किन्तु जैन दार्शनिकों द्वारा इसके लिए तर्क को पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया जाना विचारणीय है।

न्याय-मीमांसा दर्शनों की भांति जैनदर्शन में शब्द या आगम को पृथक् प्रमाण माना गया है। बौद्ध दार्शनिक शब्द का अर्थ के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं मानते हैं,[93] अतः वे अपोह के द्वारा शब्द की विवक्षा का अनुमित होना स्वीकार कर[94] शब्द को अनुमानप्रमाण में समाहित कर लेते हैं।[95] जैन दार्शनिकों ने बौद्धमत का प्रबल खण्डन किया है। वे शब्द के साथ अर्थ का संकेत सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।[96] उनका मन्तव्य है कि जो शब्द अविसंवादक रूप से अर्थ का कथन करते हैं, वे प्रमाण हैं।[97] बौद्धमत का खण्डन करते हुए जैन दार्शनिक कहते हैं कि विवक्षा से अन्यत्र भी शब्द का प्रामण्य होता है तथा विवक्षा भी शब्द से व्यभिचरित हो सकती है।[98] इसलिए विवक्षा के कारण शब्द का अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है। बौद्ध दार्शनिक शब्द को अर्थ का वाचक नहीं मानकर[99] उसे अन्यापोह के द्वारा अर्थ का प्रतिपादक मानते हैं।[100] जैन दार्शनिकों ने शब्द का अर्थ से योग्यता सम्बन्ध स्वीकार कर अपोह का पर्याप्त निरसन किया है जिसमें कुमारिल भट्ट एवं वाचस्पतिमिश्र का भी प्रभाव है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शनों में प्रमाण-निरूपण उनकी अपनी तत्त्वमीमांसा से प्रभावित है। श्रमण परम्परा की दृष्टि से एक होकर भी इन दर्शनों की प्रमाण विषयक अवधारणाओं में अनेक मौलिक मत-भेद हैं। प्रमाण को ज्ञानात्मक प्रतिपादित करने, प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यास दशा में परतः स्वीकार करने, अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ भेद मानने आदि में जैन और बौद्ध दार्शनिक एकमत हैं, तो वे प्रमाण-लक्षण, प्रत्यक्ष-लक्षण, अनुमान-प्रमाण, हेतुलक्षण, हेतु-भेद, आगम-प्रमाण आदि के सन्दर्भ में पारस्परिक मतभेद भी रखते हैं।

सम्पूर्ण प्रमाण-विवेचन में जैन दार्शनिकों की दृष्टि या तो आगम-सापेक्ष रही है या संव्यवहार-सापेक्ष। सांव्यवहारिक दृष्टि को अपना कर ही जैन दार्शनिक प्रमाण-मीमांसा के वैचारिक युद्ध में उतर पाए हैं। स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानना एवं प्रत्यक्ष का सांव्यवहारिक रूप प्रस्तुत करना उनकी संव्यवहार-सापेक्ष दृष्टि का परिचायक है। ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ, आलोक आदि को कारण नहीं मानकर उसे ज्ञानावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से प्रकट होना स्वीकार करना उनकी आगम-सापेक्ष दृष्टि को स्पष्ट करता है। जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दार्शनिकों ने आगम एवं व्यवहार में भी प्रमाण-चिन्तन को स्थान दिया है। बौद्ध दार्शनिकों की दृष्टि व्यावहारिक कम एवं तार्किक अधिक रही है। वे 'प्रामाण्यं व्यवहारेण' का सिद्धान्त प्रतिपादित करके भी विज्ञानवाद एवं क्षणिकवाद का अनुगमन करने के कारण पूर्ण व्यावहारिक नहीं हो सके। उनका तर्क एवं व्यवहार भी परमार्थ के लिए है।

इसमें संदेह नहीं कि जैन दार्शनिकों ने बौद्ध प्रमाण-मीमांसा में पाण्डित्य प्राप्त कर उनसे कुछ ग्रहण भी किया है एवं उनके मत का कुशलता पूर्वक निरसन भी किया है। बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित एवं अर्चट भी जैन प्रमाण-मीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा से प्रभावित होकर उसका निरसन करने के लिए तत्पर होते हैं। वस्तुतः जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शन श्रमण परम्परा के सन्दर्भ में एक होकर भी प्रमाण-प्रतिष्ठा के परिप्रेक्ष्य में मतभेद रखते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ

1. पं. दलसुख भाई मालवणिया, धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृ. 37-38
2. (i) ज्ञानं प्रमाणं, नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादि। - मनोरथनन्दी, प्रमाणवार्तिकवृत्ति, पृ. 3
   (ii) सन्निकर्षादिरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत्-अकलंक, अकलंक-ग्रन्थत्रयम्, पृ. 44
3. जिनेन्द्रबुद्धि, प्रमाणसमुच्चयटीका, प्रमाणसमुच्चय, पृ.11
4. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक 1.7
5. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक 1.3
6. अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता। - धर्मकीर्त्ति, प्रमाणवार्त्तिक 2.56
7. अर्थक्रियास्थिति : अविसंवादनम्। - धर्मकीर्त्ति, प्रमाणवार्त्तिक 1.3
8. धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, पृ.10
9. धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, पृ.10 - प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव।
10. मनोरथनन्दी, प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति, पृ.8, प्रमाणवार्त्तिक 1.3
11. प्रज्ञाकरगुप्त, प्रमाणवार्त्तिकभाष्य, पृ. 30.22
12. धर्मकीर्त्ति, न्यायबिन्दु 1.20
13. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
    स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा। - शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, 1343
14. व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यंच नीलसंवेदनरूपम्।
    - धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, पृ.88
15. अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणम् - अकलंकग्रंथत्रयम्, पृ. 2.24
16. (i) स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यता हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति। - माणिक्यनन्दी, परीक्षामुख, 2.9
    (ii) सर्वप्रकाश सामर्थ्यं ज्ञानावरणसंक्षयात्। - न्यायविनिश्चय का. 359, अकलंक ग्रन्थत्रयम्, पृ.78
17. स्वपर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्। - वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्वालोक 1.2
18. विद्यानन्दि, अष्टसहस्री, पृ.276.8
19. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। - विद्यानन्दि, प्रमाणपरीक्षा, पृ.1
20. तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्, समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, 101
21. (i) प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जितम्। - सिद्धसेन, न्यायावतार,1
    (ii) स्वपरावभासं यथा प्रमाणं भवि बुद्धिलक्षणम्। - समन्तभद्र, स्वयंभुस्तोत्र, 63

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

22. प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणं प्रमायां साधकतमम्। - प्रभाचन्द्र, न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 1, पृ.48.10 एवं हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसावृत्ति 1.1.1
23. विद्यानन्दि, प्रमाणपरीक्षा, पृ.5, अष्टसहस्री, पृ.276.7
24. अकलंक, अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ. 175
25. मणिक्यनन्दी, परीक्षामुख 1.1
26. प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 1, पृ.169-173
27. तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद् विशेषणम्।। विद्यानन्दि, तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक 1.10.78
28. ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्! - हेमचन्द्र प्रमाणमीमांसा 1.1.4
29. अकलंक, तत्त्वार्थवार्त्तिक, पृ. 56, 1.12
30. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थ ग्राहकं मतम्।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते।।, अकलंक, लघीयस्त्रय, 60
31. Critique of Indian Realism, p. 471
32. अविसंवादकं प्रमाणम् - अकलंक, अकलंकग्रन्थत्रयम्, पृ.8.10
33. प्रमाणान्तरबाधनं पूर्वापराऽविरोधश्चाविसंवादः। - अकलंकग्रन्थत्रयम्, पृ. 14
34. अविसंवादकत्वं च निर्णयायत्तम् तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात्। - अकलंकग्रन्थत्रयम्, पृ. 20.25
35. अकलंकग्रन्थत्रयम्, पृ.8
36. दिङ्नाग, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति 1.2, पृ.4, एवं जिनेन्द्रबुद्धि, प्रमाणसामुच्ययटीका प्रमाणसमुच्चय, पृ.6
37. सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः। - मणिक्यनन्दी, परीक्षामुख 4.1
38. दिङ्नाग, प्रमाणसमुच्चय 1.3
39. धर्मकीर्त्ति, न्यायबिन्दु 1.4
40. अथ के यं कल्पना नामजात्यादियोजना-दिङ्नाग, प्रकरणसमुच्चयवृति, 3 In "Dignag on Perception" by Massaki Hatlori
41. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना। - धर्मकीर्त्ति, न्यायबिन्दु 1.5
42. धर्मकीर्त्ति, प्रमाणवार्त्तिक 2.297
43. धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, पृ.47, सूत्र 1.5
44. धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, पृ. 48 सूत्र 1.5
45. धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, पृ.48, सूत्र 1.5
46. मल्लवादी क्षमाश्रमण, द्वादशारनयचक्र (जम्बूविजय द्वारा संपादित) भाग-1, पृ.63 एवं पृ. 70-78
47. तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम्। - दिङ्नाग, प्रमाणसमुच्चय, In "Dignaga on Perception".

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

48. मल्लवादी क्षमाश्रमण, द्वादशारनयचक्र (जम्बूविजय द्वारा संपादित) भाग-1, पृ. 65
49. विद्यानन्दि, तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक 1.12.8-9 एवं वृत्ति प्रभाचन्द्र, न्यायकुमुदचन्द्र भाग-1, पृ. 48-51 आदि
50. अकलंक, लघीयस्त्रय 23, अकलंकग्रन्थत्रयम्, पृ. 8, विद्यानन्दि, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक 1.12.13 आदि
51. (i) अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्। - पूज्यपाद, सवार्थसिद्धि 1.12, पृ. 72
(ii) इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारसाकारग्रहणं प्रत्यक्षम्। अकलंक, तत्त्वार्थवार्त्तिक, 1.12, पृ.53
52. (i) तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रयानिन्द्रियप्रत्यक्षम्। - अकलंकग्रन्थत्रयम्, पृ.9
(ii) इंदियमणो भवं जं तं संववहारपच्चक्खं। - जिनभद्र, विशेषावश्यक भाष्य, 95
53. पारमार्थिक पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम्। - वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्वालोक 2.18
54. (i) प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम् - अकलंक, सिद्धिविनिश्चय, 1.19
(ii) विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम् - विद्यानन्दि, प्रमाणपरीक्षा, पृ. 37
(iii) विशदं प्रत्यक्षम् - मणिक्यनन्दी, परीक्षामुख 2.3
(iv) स्पष्टं प्रत्यक्षम् - वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक 2.2
(v) विशदः प्रत्यक्षम् - हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा 1.1.13
55. (i) अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेश्वैशदामतः परम्।। लघीयस्त्रय (अकलंक) का.4
(ii) अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम्। - वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्वालोक 2.3
56. प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्। मणिक्यनन्दी परीक्षामुख 2.4
57. प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्। - हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा 1.1.4
58. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह 1264-1283
59. अभिप्रायविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता -धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक 2.56
60. अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् - धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक 2.58
61. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।।
यथा तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानतदाभयोः।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्।। धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक 2.57-58
62. विद्यानन्दि, अष्टसहस्री, पृ. 277-78
63. त्रिरूपलिंगतोऽर्थदृक्-दिङ्नाग, प्रमाणसमुच्चय, उद्धृत, द्वादशारनयचक्र (जम्बूविजयसंपादित) भाग-1 परिशिष्ट, पृ. 122
64. निरूपलिंगपूर्वत्वं ननु संवादिलक्षणम् - शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह 1467, त्रिरूपात् लिंगादनुमेयार्थदर्शनम् - शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह 1361

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

65. यतस्त्रिरूपलिंगजं यज्ज्ञानं तत् पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबद्धम् अतोऽविसंवादं प्रत्यक्षवत्। - कमलशील, पंजिका, तत्त्वसंग्रह, पृ. 523 का. 1467
66. विद्यानन्दि, अष्टसहस्री, पृ. 278
67. उपायहृदय, पृ. 13 (Pre Dignaga Buddinist texts on Logic from Chinese Sources)
(ii) से किं तं अणुमाणे ? स तिविहे पण्णते तंजहा - पुव्ववं, सेसवं, दिट्ठ-साहम्मवं। - अनुयोगद्वारसूत्र, अनुमानप्रमाणद्वार।
86. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु 2.4
69. हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः।। धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक 3.15
70. निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः। - वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक 3.11
71. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह 1363-1378
72. (i) शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, 1368
(ii) अकलंक, न्यायविनिश्चय, 2.154-55
(iii) विद्यानन्दि, प्रमाणपरीक्षा, पृ. 49
(iv) वादिदेवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. 521
(v) हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा, पृ. 40
73. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः। माणिक्यनन्दी, परीक्षामुख 3.12
74. त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिंगानि। अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यंचेति। धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु 2.10-11
75. द्रष्टव्य, माणिक्यनन्दी, परीक्षामुख 3.53-3.89 एवं वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक 3.67-3.109
76. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु 2.19
77. तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावो व्याप्तः तयोस्तत्रावश्यंभावात्। - अर्चट, हेतुबिन्दुटीका, पृ. 8
78. विद्यानन्दि, तत्त्वार्थश्लोकवर्त्तिक, 1.13.144
79. (i) पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्। - वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक 3.23
(ii) कारणे कार्योपचारात् - धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु 3.2
80. विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः। - धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक 3.27
81. प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः। - कुमारनन्दी, उद्धृत, प्रमाणपरीक्षा, पृ. 72
82. वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक 3.28 एवं 3.42 तथा स्याद्वादरत्नाकर, पृ. 548
83. अकलंक, न्यायविनिश्चय 1.101-102 एवं माणिक्यनन्दी, परीक्षामुख 6.21
84. अकलंक, न्यायविनिश्चय 2.202
85. दिङ्नाग, उद्धृत, तत्त्वसंग्रहपंजिका, पृ. 539

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

86. प्रभाचन्द्र, न्यायकुमुदचन्द्र भाग 2, पृ. 407-408
87. अकलंक, प्रमाणसंग्रह का. 10 अकलंकग्रन्थत्रयम्, पृ. 99
88. विद्यानन्दि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.13.9.27
89. अकलंकग्रन्थत्रयम्, पृ. 15.29 एवं विद्यानन्दि, प्रमाणपरीक्षा, पृ.43
90. माणिक्यनन्दी, परीक्षामुख 3.5 .
91. वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक 3.7 एवं अकलंक न्यायविनिश्चय 329.33
92. द्रष्टव्य, वादिदेवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. 514
93. (i) नान्तरीयकता भावाच्छब्दानां वस्तुभिस्सह । - धर्मकीर्ति, प्र.वा.3.213-214
(ii) न हि वाच्यैर्वस्तुभिः सह कश्चित् तादात्म्यलक्षणः तदुत्पतिलक्षणो वा प्रतिबन्धो वचसामस्ति। - कमलशील, पंजिका, तत्त्वसंग्रह 1512, पृ. 538
94. (i) ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः । - धर्मकीर्ति, प्र.वा. 3.214
(ii) वचोभ्यो निखिलेभ्यो विवक्षैषानुमीयते। - शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह 1514
95. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, 1520
96. सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः । - माणिक्यनन्दी परीक्षामुख 3.96
97. तस्य हि वचमविसंवादि भवति। - वादिदेवसूरि, प्र.न.त. 4.5
98. अकलंकग्रंथत्रयम्, पृ. 9
99. (i) तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैःप्रतिपाद्यते। - शान्तरक्षित, तत्त्व संग्रह, 871
(ii) विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः ।
कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि।।
दिङ्नाग, उद्धृत, Buddhist Logic vol.II (Stcherbaksky) p.405 f.N.1
100. स्वार्थमन्यापोहेन भाषते - दिङ्नाग, उद्धृत, तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ. 529

❋

- सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'क्षेत्रज्ञ' शब्द का स्वीकार्य प्राचीनतम अर्धमागधी रूप*

- डॉ. के.आर.चन्द्र

इस विषय का एक संशोधन लेख[1] पहले ही प्रकाशित हो चुका है, नयी सामग्री मिलने के कारण पुनः इस शब्द के प्राचीन प्राकृत रुप पर चर्चा की जा रही है। आचारांग, सूत्रकृतांग और ऋषिभाषितानि अर्धमागधी आगम साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ माने जाते हैं। उनमें[2] 'क्षेत्रज्ञ' शब्द के प्राकृत रूपों की क्या स्थिति है यह इस अध्ययन का विषय है। प्राचीन ग्रन्थों में प्राचीन प्राकृत रूप मिलता है या नहीं, हस्तप्रतों में कौन-कौन से रुप मिलते हैं, परवर्ती प्राकृत व्याकरण का इस शब्द के प्राकृत रूप पर क्या प्रभाव पड़ा और हस्तप्रतों में विविध प्राकृत रूपों की उपलब्धि के कारण सम्पादक महोदय ने जो जो रुप अपनाये वे भाषिक दृष्टि से उपयुक्त हैं या नहीं, इन सबका यहाँ पर विश्लेषण किया जा रहा है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में यह शब्द 16 बार मिलता है -- 8 बार खेत्तण्ण, 6 बार खेतण्ण और 2 बार खेयण्ण के रूप में।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध में यह 2 बार मिलता है - 1 बार खेतण्ण और 1 बार खेयण्ण के रूप में। सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में यह 10 बार मिलता है -- 3 बार खेयण्ण, 2 बार खेत्तण्ण, 2 बार खेतन्न, 1 बार खेतण्ण, 1 बार खेत्तन्न और 1 बार खेयन्न के रूप में।

इसे तालिका के रूप में इस प्रकार दिया जा सकता है :-

आचारांग-I	सूत्रकृतांग-I	सूत्रकृतांग-II
खेत्तण्ण (8)	-	खेत्तण्ण (2)
खेतण्ण (6)	खेतण्ण (1)	खेतण्ण (1)
खेयण्ण (2)	खेयण्ण (1)	खेयण्ण (3)
		खेत्तन्न (1)
		खेतन्न (2)
		खेतन्न (1)
16 बार	2 बार	10 बार

आचारांग और सूत्रकृतांग की हस्तप्रतों में इस शब्द के जो पाठान्तर[3] मिलते हैं वे प्रतवार इस प्रकार हैं :-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) आचारांग (म.जै.वि.संस्करण)

	ताडपत्र की प्रत					कागज की प्रत					
	सं.	शां.	खं.	खे.	जै.	हे1	हे2	हे3	इ.	ला.	ला1
1. खेत्तण्ण	0	0	खेत्तण्ण	0	0	0	0	0	0	0	खेत्तण्ण
2. खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	0	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण
3. खेदण्ण	खेदण्ण	0	खेदण्ण	0	0	खेदण्ण	खेदण्ण	खेदण्ण	0	खेदण्ण	0
4. खेअण्ण	खेअण्ण	0	0	0	0	0	0	0	0	0	0
5. खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	0	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण
6. खेअन्न	खेअन्न	खेअन्न	खेअन्न	खेअन्न	खेअन्न	खेअन्न	खेअन्न	खेअन्न	0	खेअन्न	खेअन्न
7. खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	0	खेयन्न	खेयन्न

एक जगह प्रत्यन्तर से 'खेदन्न' पाठान्तर दिया गया है। चूर्णी में 'खित्तण्ण' पाठ भी मिलता है।

देखिए - आचारांग पृष्ठ 26 पा. टि. नं. 8 और पृ. 39 पा. टि. नं. 10

(ii) सूत्रकृतांग (म.जै.वि.संस्करण)

	ताडपत्र की प्रत		कागज की प्रत			
	खं1	खं2	पा.	पु1	पु2	ला.
1. खेत्तन्न	0	खेत्तन्न	खेत्तन्न	खेत्तन्न	खेत्तन्न	खेत्तन्न
2. खेतन्न	खेतन्न	खेतन्न	खेतन्न	खेतन्न	खेतन्न	खेतन्न
3. खेअन्न	0	0	0	0	0	खेअन्न
4. खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न	खेयन्न
5. खेत्तण्ण	खेत्तण्ण	खेत्तण्ण	खेत्तण्ण	खेत्तण्ण	खेत्तण्ण	खेत्तण्ण
6. खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण	खेतण्ण
7. खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण	खेयण्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन तालिकाओं के अनुसार आचारांग और सूत्रकृतांग दोनों के प्रथम श्रुतस्कंध में परवर्ती रूप मिलते हैं जब कि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में दो प्राचीनतम रूप 'खेत्तन्न' और 'खेतन्न' भी मिलते हैं[4]। पाठान्तरों के रूप में आचारांग की उपलब्ध प्रतियों में भी पुराना रूप नहीं मिलता है, जबकि सूत्रकृतांग के पाठान्तरों में 'खेत्तन्न' और 'खेतन्न' पुराने रूप मिलते हैं। आचारांग की प्रतियों में खेदन्न 'खेदण्ण' दो नये ही रूप मिलते हैं जो सूत्रकृतांग की प्रतियों में नहीं मिलते हैं।

ताडपत्र की या कागज की हरेक प्रत में इस शब्द के लगभग सभी प्राचीन या परवर्ती प्राकृत रूप मिलते हैं[5]। प्राचीन प्रतों में प्राचीन रूप ही मिलता हो या परवर्ती प्रतों में परवर्ती रूप ही मिलता हो ऐसा भी नहीं है। अतः अर्धमागधी ग्रन्थों के सम्पादन के समय भाषिक दृष्टि से किस प्रत को आदर्श माना जाय ? ऐसी अवस्था में सम्पादक को अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग करके प्राकृत के प्राचीन रूपों को अर्थात् मूल अर्धमागधी रूपों को स्वीकार करना अनिवार्य बन जाता है। हमारी दृष्टि से 'खेत्तन्न' और 'खेतन्न' ही प्राचीन रूप हैं अतः आचारांग और सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन ग्रंथों में इन्हें ही स्वीकार किया जाना चाहिए और अन्य रुप पाठान्तरों में रखे जाने चाहिए।

खेत्तन्न, खेतन्न, खेदन्न, खेदण्ण, खेयण्ण, खेअण्ण।
खेत्तण्ण और खेतण्ण भी परवर्ती रूप हैं।

आश्चर्य की बात यह है कि आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंधों जैसे प्राचीनतम अर्धमागधी अंशों में (अर्थात् उनकी हस्तप्रतों में) 'क्षेत्रज्ञ' शब्द का प्राचीनतम प्राकृत रूप 'खेत्तन्न' या 'खेतन्न' नहीं मिल रहा है जबकि ये दोनों रुप सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध (जो परवर्ती रचना मानी गयी है) की ताडपत्र और कागज दोनों प्रकार की प्रतियों में मिल रहा है। इससे भी अधिक आश्चर्य यह है कि प्राचीन रूप मिलते हुए भी मुद्रित ग्रन्थों में किसी भी संपादक[6] श्री ने उसे सर्वत्र स्वीकार नहीं किया है और 'खेयण्ण' जैसा अति परवर्ती रूप भी स्वीकार कर लिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. इस सम्बन्ध में देखिए मेरा लेख : क्षेत्रज्ञ शब्द के विविध प्राकृत रूपों की कथा और उसका अर्धमागधी रूपान्तर : श्रमण, वाराणसी, अक्टूबर-दिसम्बर, 1990।
2. आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषितानि में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिला है।
3. देखिए-- आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध (म. जै. वि. संस्करण), सूत्र 32, 79, 88, 104, 109, 132, 176, 209, 210 और पादटिप्पणों के पाठान्तर, सूत्रकृतांग (म. जै. वि. संस्करण), सूत्र-I. 354, 619 तथा II. 639 से 643 और 680 और पादटिप्पणों के पाठान्तर।
4. मेरी पुस्तक-- "प्राचीन अर्धमागधी की खोज में" (1991-1992) में छपे 'क्षेत्रज्ञ शब्द का अर्धमागधी रूप' नामक लेख भी देखा जा सकता है।
5. क्रमिक विकास की दृष्टि से 'क्षेत्रज्ञ' के विविध प्राकृत रूपों को इस क्रम में रखा जा सकता है।
6. देखिए-- म. जै. वि., आगमोदय, जैन विश्वभारती और शुब्रिंग महोदय के आचारांग के संस्करण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टपाहुड की प्राचीन टीकाएँ

- डॉ. महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'

पाहुड-ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की प्रमुख रचनायें हैं। दंसण, सुत्त, चारित्र, बोह, भाव, मोक्ख, लिंग और सील इन आठ पाहुडों को 'अष्टप्राभृत' तथा आदि के छह पाहुडों को 'षट्प्राभृत' नाम दिया गया। इन्हीं नामों से ये प्रकाशित हुए हैं।

अष्टपाहुड के अब तक प्रकाशित संस्करणों के सम्पादन में प्राचीन पाण्डुलिपियों का उपयोग प्रायः नगण्य हुआ है। इसलिए प्रायः प्रत्येक संस्करण के मूल प्राकृत पाठ में भिन्नता है। पाठ-भिन्नता के कारण अष्टपाहुड के विशिष्ट अध्ययन में काफी असुविधाएँ हुईं हैं। इन्हीं को ध्यान में रखते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की रिसर्च एशोसिएट योजना के अन्तर्गत सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राकृत एवं जैनागम विभाग में मैंने अष्टपाहुड के सम्पादन का कार्य आरम्भ किया है। अभी तक के अनुसन्धान से मुझे अष्टपाहुड की 268 पाण्डुलिपियों की जानकारी मिली है।

देश-विदेश के विभिन्न शास्त्रभंडारों में अष्टपाहुड की दर्शनप्राभृत (दंसणपाहुड), चारित्रप्राभृत, भावप्राभृत, भावनाप्राभृत (भावपाहुड), मोक्षप्राभृत (मोक्खपाहुड), लिंगपाहुड, सीलपाहुड, षट्प्राभृत (षडपाहुड) अष्टप्राभृत आदि नामों से पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

आचार्य अमृतचन्द कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थों के आद्य एवं प्रमुख टीकाकार हैं। दूसरे प्रमुख टीकाकार आचार्य जयसेन हैं। उक्त दोनों आचार्यों की समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर टीकाएँ उपलब्ध हैं। किन्तु कुन्दकुन्द की नियमसार और अष्टपाहुड जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओं पर इन आचार्यों की टीकाएँ प्राप्त न होना विचारणीय है।

षट्पाहुड पर श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका तथा अष्टपाहुड पर पण्डित जयचन्द छावड़ा की ढूंढारी भाषावचनिका ये दो टीकाएँ प्रकाशित हुईं हैं। अनुसंधान के क्रम में विभिन्न शास्त्रभण्डारों, प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थसूचियों आदि के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि अष्टपाहुड पर कन्नड, संस्कृत, ढूंढारी, हिन्दी आदि भाषाओं में विभिन्न आचार्यों तथा विद्वानों ने अनेक टीकाएँ तथा पद्यानुवाद किए हैं। अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार पाहुडों पर तीन प्राकृत टीकाएँ, चार हिन्दी-ढूंढारी टीकाएँ और पद्यानुवाद किए गये हैं। कन्नड टीकाएँ बालचन्द, कनकचन्द और एक अज्ञात टीकाकार की है। संस्कृत टीकाएँ प्रभाचन्द्र महापण्डित, प्रभाचन्द्र, श्रुतसागरसूरि और एक अज्ञात विद्वान की हैं। ढूंढारी-हिन्दी टीकाएँ और पद्यानुवाद भूधर, देवीसिंह छावड़ा, पं. जयचन्द छावड़ा और एक अज्ञात रचयिता द्वारा किये जाने के उल्लेख हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन की सूचना[1] के अनुसार 13वीं शताब्दी में बालचन्द ने मोक्षपाहुड पर कन्नड टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होनें आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार पर कन्नड टीकाएँ लिखीं हैं। तत्त्वार्थसूत्र, द्रव्यसंग्रह और परमात्मप्रकाश पर भी इनके द्वारा कन्नडटीकाएँ रचे जाने की सूचनाएँ प्राप्त हैं[2]। मोक्षपाहुड पर बालचन्द्र-कृत कन्नड टीका की एक ताडपत्रीय पाण्डुलिपि के जैनमठ मूडविद्री में उपलब्ध होने की सूचना है। इसकी पत्र संख्या 12 व ग्रन्थांक 758 है[3]। मोक्षपाहुड पर ही 13वीं शताब्दी में कनकचन्द ने कन्नड टीका लिखी है[4]। इनके विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती।

आरा के जैन सिद्धान्त भवन में पाहुडों की कन्नड भाषा में तीन ताडपत्रीय पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं। दो मोक्षपाहुड एवं एक षट्प्राभृत नाम से है। मोक्षप्राभृत के पत्र 17 और 18 तथा ग्रन्थांक 1028 और 1029 हैं। षट्प्राभृत के पत्र 40 तथा ग्रन्थांक 1357 हैं। 1028 नं. की पाण्डुलिपि मोक्षप्राभृत की है। इसकी लिपि कन्नड है। इसमें मूल प्राकृत-गाथाओं की संक्षिप्त टीका भी है। टीका की भाषा कन्नड है। प्रति जीर्ण है। पत्र टूट रहे हैं। इसका परीक्षण कर लिया गया है।

षडपाहुड पर एक अन्य टीका की सूचना हमें भट्टारक यशःकीर्ति सरस्वती भण्डार, ऋषभदेव के प्रकाशित सूचीपत्र[5] से प्राप्त हुई। इस सूची में षट्पाहुड की दो पाण्डुलिपियों का विवरण है। एक प्रति के विवरण में टीकाकार के कॉलम में "टी देवी" तथा भाषा के कॉलम में "प्राकृत टी" लिखा है। टी देवी के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। सम्भव है पाण्डुलिपि में कुछ विवरण सुरक्षित हो।

प्रभाचन्द्र महापण्डित ने अष्टपाहुड की 'पंजिका' नाम से संस्कृत टीका लिखी है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने इनका समय सम्वत् 1010-1060 सूचित किया है[6]। इन्होने इन्हें "प्रभाचन्द्र महापण्डित ऑफ धारा" लिखा है। इस सूचना के अनुसार प्रभाचन्द्र महापण्डित ने प्रवचनसार पर "प्रवचनसार सरोज भास्कर", पंचास्तिकाय पर 'पंचास्तिकाय प्रदीप' और समयसार तथा मूलाचार पर भी टीकाएँ लिखीं हैं। अष्टपाहुड पर एक संस्कृत टीका प्रभाचन्द्र महापण्डित से भिन्न प्रभाचन्द्र ने की है। इनका समय 1270 से 1320 ई. है। इन्होंने समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर भी टीकाएँ रचीं है[7]। विक्रम की 16वीं शताब्दी के आचार्य श्रुतसागर सूरि ने अष्टपाहुड के दंसण, सुत्त, चरित्त, बोह, भाव और मोक्खपाहुड पर पदखण्डान्वयी संस्कृत टीका लिखी है। यह टीका प्रकाशित[8] हो चुकी है। श्रुतसागर सूरि ने कुल 38 रचनाएँ की हैं। ये टीकाग्रन्थ, कथाग्रन्थ, व्याकरण और काव्यग्रन्थ हैं।

षट्पाहुड पर एक अन्य संक्षिप्त संस्कृत टीका प्राप्त हुई है। इससे मात्र गाथार्थ स्पष्ट होता है। इस टीका की अनेक पाण्डुलिपियाँ भारत और विदेशों में भी मौजूद हैं। इसकी 20 पाण्डुलिपियों की जानकारी है। ये प्रतियाँ जयपुर, महावीरजी, अहमदाबाद, ईडर, ब्यावर, चाँदखेड़ी, बम्बई, इन्दौर, सागर और स्ट्रासबर्ग (जर्मनी) के शास्त्रभण्डारों में सुरक्षित हैं। इनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अहमदाबाद, ईडर, इन्दौर और सागर की चार पाण्डुलिपियों की जिराक्स प्रतियां प्राप्त कर ली हैं। इस टीका का रचयिता अज्ञात है।

षट्पाहुड की एक टब्बा टीका भूधर ने लिखी है। इसकी एक पाण्डुलिपि जयपुर के दिगम्बर जैन मंदिर ठोलियान के शास्त्रभण्डार में विद्यमान होने की सूचना है। इसके पत्र 62, वेष्टन संख्या 244 है[9]। यह प्रति संवत् 1751 की है। इस पाण्डुलिपि के विवरण से ज्ञात होता है कि यह टब्बा टीका भूधर ने प्रतापसिंह के लिए बनाई थी।

सम्वत् 1801 में षट्पाहुड का हिन्दी पद्यानुवाद देवीसिंह छावड़ा ने किया है। इस अनुवाद की तीन पाण्डुलिपियाँ ज्ञात हैं। इन तीनों के अलग-अलग स्थानों में विद्यमान होने की सूचना है। एक दिगम्बर जैन मंदिर आदिनाथ, बूंदी[10], एक पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर, इन्दरगढ़[11] और एक संभवनाथ दिगम्बर जैन मंदिर, उदयपुर[12] के शास्त्रभण्डार में। आदिनाथ मंदिर, बूंदी की प्रति संवत् 1850 की है। इससे ज्ञात होता है कि देवीसिंह छावड़ा ने षट्पाहुड का हिन्दी पद्यानुवाद अष्टपाहुड की ढूंढारी भाषा वचानिका (पं. जयचन्द छावड़ा संवत् 1867) से पूर्व किया है।

सम्वत् 1820-1886 के विद्वान् पं. जयचन्द छावड़ा ने संवत् 1867[13] में अष्टपाहुड पर ढूंढारी भाषा में वचनिका टीका लिखी। प्राकृत-संस्कृत में लोगों की दक्षता प्रायः समाप्त हो जाने के कारण यह टीका बहुत प्रसिद्ध हुई। यही कारण है कि इस टीका युक्त अष्टपाहुड की पाण्डुलिपियाँ गाँवों-गाँवों में अब भी सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध हैं। यह टीका प्रकाशित[14] हो चुकी है। पं. जयचन्द छावड़ा ने समयसार, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, द्रव्यसंग्रह, परीक्षामुख, आप्तमीमांसा, पत्रपरीक्षा, सर्वार्थसिद्धि, ज्ञानार्णव आदि अनेक ग्रन्थों पर ढूंढारी भाषा वचनिका लिखी है[15]।

षट्पाहुड पर सं. 1789 से पूर्व भी एक हिन्दी टीका लिखी गयी है। इस टीका की 3 पाण्डुलिपियाँ ज्ञात हैं। 2 प्रतियाँ दिगम्बर जैन मंदिर अभिनन्दन स्वामी, बूँदी और एक प्रति दिगम्बर जैन मंदिर नागदी, बूँदी में सुरक्षित है[16]। अभिनन्दन स्वामी मंदिर की वेष्टन संख्या 144 की प्रति संवत् 1789 में लिखी गयी। यह पाण्डुलिपि जती गंगारामजी ने सवाई जयसिंह के राज्य में माणपुर ग्राम में लिखी। इस टीका का लेखक अज्ञात है।

इस तरह अब तक के अनुसंधान से अष्टपाहुड एवं षट्पाहुड की ग्यारह टीकाओं की जानकारी प्राप्त हुई है। ये टीकाएँ कन्नड, संस्कृत, ढूंढारी और हिन्दी भाषा में की गई हैं। उपर्युक्त ग्यारह टीकाओं में से श्रुत सागरसूरि-कृत संस्कृत तथा जयचन्द छावड़ा-कृत ढूंढारी भाषा वचनिका टीका ही मुद्रित हुई हैं।

विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि अष्टपाहुड की टीकाओं तथा टीकाकारों और प्राचीन पाण्डुलिपियों के विषय में यदि कोई जानकारी हो तो मुझे दें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

1. जैन आथर्स एण्ड देअर वर्क्स, जैना एण्टीक्वेरी, भाग 37, नं. 2, पृ. 14 एवं परमात्मप्रकाश-प्रस्तावना - डॉ. ए.एन. उपाध्ये।
2. वही।
3. कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची, पृ. 17।
4. कतिपय (दि.) जैन संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों पर प्राचीन कन्नड टीकाएँ - पं. के भुजबली शास्त्री, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 2, किरण 3, दिसम्बर 1935, पृ. 112। जैना आथर्स एण्ड देअर वर्क्स - डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, जैना एण्टीक्वेरी, भाग 37, नं. 2, पृ.14।
5. हस्तलिखित शास्त्रों का परिचय, पृ. 18, प्रकाशक पं. रामचन्द्र जैन, ट्रस्टमंत्री, ऋषभदेव।
6. जैन आथर्स एण्ड देअर वर्क्स - जैना एण्टीक्वेरी, भाग 33, नं. 2, पृ. 11।
7. वही, भाग 34, नं.2, पृष्ठ 49।
8. षट्प्राभृतादिसंग्रहः, मणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वी.नि.सं. 2447। अष्टपाहुड, शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, महावीरजी, वी.नि.सं. 2494।
9. राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों की ग्रन्थसूची, भाग 3, पृ. 194।
10. आचार्य कुन्दकुन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व - डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 157।
11. राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों की ग्रन्थ सूची, भाग 5, पृ. 219।
12. वही।
13. संवत्सर दश आठ सत सतसठि विक्रमराय।
    मास भाद्रपद शुक्ल तिथि तेरसि पूरन थाय।।
    - अष्टपाहुड (पाण्डुलिपि), पत्र-206, आचार्य महावीरकीर्ति सरस्वती भवन, राजगिर।
14. अष्टपाहुड, मुनि अनन्तकीर्तिग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वी.सं. 2450।
15. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग-2, पृ. 323।
16. राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों की ग्रन्थसूची, भाग 5, पृ. 219।

- *रिसर्च एसोसिएट, प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्णिमागच्छ - प्रधानशाखा अपरनाम ढंढेरियाशाखा का संक्षिप्त इतिहास

- *शिवप्रसाद*

चन्द्रकुल के आचार्य जयसिंहसूरि के शिष्य आचार्य चन्द्रप्रभसूरि द्वारा वि.सं. 1149/ई. सन् 1093 अथवा वि.सं. 1159/ई. सन् 1103 में प्रवर्तित पूर्णिमागच्छ की कई अवान्तर शाखायें समय-समय पर अस्तित्व में आयीं, यथा प्रधानशाखा या ढंढेरियाशाखा, कच्छोलीवालशाखा, भीमपल्लीयाशाखा, सार्धपूर्णिमाशाखा, भृगुकच्छीयाशाखा, वटपद्रीयाशाखा आदि। इन शाखाओं में प्रधानशाखा या ढंढेरियाशाखा सबसे प्राचीन मानी जाती है। आचार्य चन्द्रप्रभसूरि के प्रशिष्य समुद्रघोषसूरि के द्वितीय शिष्य सुरप्रभसूरि इस शाखा के प्रथम आचार्य माने गये हैं। इस शाखा में आचार्य जयसिंहसूरि, जयप्रभसूरि, भुवनप्रभसूरि, यशस्तिलकसूरि, कमलप्रभसूरि, पुण्यप्रभसूरि, महिमाप्रभसूरि, ललितप्रभसूरि आदि कई प्रखर विद्वान् आचार्य हो चुके हैं।

पूर्णिमागच्छ की प्रधानशाखा के इतिहास के अध्ययन के लिये इस शाखा के मुनिजनों द्वारा रची गयी कृतियों की प्रशस्तियां तथा बड़ी संख्या में दूसरों से लिखवायी गयी अथवा स्वयं उनके द्वारा की गयी प्रतिलिपियों की प्रशस्तियां, पट्टावली, प्रतिमालेख आदि उपलब्ध हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए यहां सर्वप्रथम ग्रन्थ एवं पुस्तक प्रशस्तियों तत्पश्चात् पट्टावली और अन्त में अभिलेखीय साक्ष्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

पूर्णिमागच्छ की इस शाखा से सम्बद्ध लगभग 57 ग्रन्थप्रशस्तियां और पुस्तकप्रशस्तियां या प्रतिलेखनप्रशस्तियां मिलती हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमांक	संवत्	तिथि/मिति	ग्रन्थ का नाम	मूल प्रशस्ति/ प्रतिलेखन प्रशस्ति	प्रशस्तिगत आचार्य/ मुनि का नाम	प्रतिलिपिकार	संदर्भग्रन्थ
1.	1520	चैत्रसुदि 5 सोमवार	किरातार्जुनीय-अवचूरि	मूल प्रशस्ति	जयप्रभसूरि	जयप्रभसूरि	Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss Muniraja Shree Punya Vijayaji's Collection Ed. by A.P. Shah, Ahmedabad-1963-68 A.D.
2.	1520	माघ सुदि 5 गुरुवार	क्रियाकलाप	प्रतिलेखनप्रशस्ति	जयप्रभसूरि एवं उनके शिष्य पूर्णकलश	जयप्रभसूरि	वही, क्रमांक 6033 पृ. 388
3.	1521	मार्गशीर्ष वदि 4 रविवार	नन्दीसूत्र	प्रतिलेखनप्रशस्ति	जयसिंहसूरि के शिष्य जयप्रभसूरि	जयप्रभसूरि	वही, क्रमांक 726, पृ.63
4.	1523	कार्तिक सुदि 2 शुक्रवार	प्रश्नोत्तररत्नमाला	प्रतिलेखनप्रशस्ति	जयप्रभसूरि	जयप्रभसूरि	वही, क्रमांक 3396 पृ. 193
5.	1527	चैत्र सुदि 7 गुरुवार	शब्दपदार्थीसूत्रवृत्ति	प्रतिलेखनप्रशस्ति	जयप्रभसूरि एवं उनके शिष्य यशस्तिलकमुनि	जयप्रभसूरि	वही, क्रमांक 152 पृ. 13
6.	1529	फाल्गुन सुदि 1 शुक्रवार	न्यायप्रवेशवृत्ति	प्रतिलेखनप्रशस्ति	जयप्रभसूरि एवं उनके शिष्य यशस्तिलकमुनि	जयप्रभसूरि	वही, क्रमांक 190 पृ. 16
7.	1551	आश्विन शुक्ल प्रतिपदा बुधवार	कर्पूरप्रकरण	प्रतिलेखनप्रशस्ति	जयप्रभसूरि एवं उनके शिष्य जयमेरु	जयप्रभसूरि	वही, क्रमांक 3805 पृ. 220

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8.	1553	चैत्र सुदि 8 रविवार	पाक्षिकसूत्रअवचूरि	प्रतिलेखनप्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि एवं उनके शिष्य कमलसंयम तथा वीरकलश	-	वही, क्रमांक 950 पृ. 78
9.	1555	-	स्नात्रपंचाशिका	प्रतिलेखनप्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि एवं उनके शिष्य वीरकलश	वीरकलश	वही, क्रमांक 2278 पृ. 110
10.	1555	भाद्रपद सुदि 9	चतु:शरणअवचूरि	प्रतिलेखनप्रशस्ति	जयप्रभसूरि	जयप्रभसूरि	वही, क्रमांक 464,पृ. 43
11.	1555	मार्गशीर्ष वदि 4 रविवार	पाक्षिकसूत्रअवचूरि	प्रतिलेखनप्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि एवं उनके शिष्य मुनि रत्नमेरु	मुनिरत्नमेरु	वही, क्रमांक 951 पृ. 78
12.	1565	भाद्रपद वदि 4 रविवार	प्रज्ञापनासूत्र	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 388 पृ.35
13.	1566	श्रावण प्रतिपदा	भगवतीसूत्रवृत्ति	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 266 पृ. 25
14.	1566	कार्तिक वदि 4 बुधवार	प्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति	प्रतिलेखनप्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि एवं उनके शिष्य मुनि राजसुन्दर	मुनि राजसुन्दर	वही, क्रमांक 800 पृ. 71
15.	1574	ज्येष्ठ वदि 9	वत्सकुमारकथा	प्रतिलेखनप्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि एवं उनके शिष्य कमलप्रभसूरि एवं उनके शिष्य राजमाणिक्य	राजमाणिक्य	वही, क्रमांक 4877 पृ. 307
16.	1574	चैत्र सुदि 13 बुधवार	आदिनाथमहाकाव्य	प्रतिलेखनप्रशस्ति	जयप्रभसूरि के शिष्य भुवनप्रभसूरि एवं उनके शिष्य मुनिरत्नमेरु	मुनिरत्नमेरु	वही, क्रमांक 4748 पृ. 272
17.	1575	ज्येष्ठ वदि 4 गुरुवार	कृतकर्मनृपचारित्र	प्रतिलेखनप्रशस्ति	कमलप्रभसूरि एवं उनके शिष्य राजमाणिक्य	राजमाणिक्य	पूर्वोक्त, क्रमांक 3891 पृ. 224
18.	1588	तिथिविहीन	प्रमाणमंजरी	प्रतिलेखनप्रशस्ति	जयसिंहसूरि एवं उनके शिष्य यशस्तिलकसूरि	यशस्तिलकसूरि	वही, क्रमांक 144 पृ. 12

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

19.	1590	वैशाख सुदि 5 शुक्रवार	दशवैकालिकवृत्ति	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	कमलप्रभसूरि एवं उनके पट्टधर पुण्यप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 1035 पृ. 84
20.	1596	पौष वदि 5	दशवेकालिकअवचूरि	प्रतिलेखनप्रशस्ति	पुण्यप्रभसूरि एवं उनके शिष्य भीमा	भीमा	वही, क्रमांक 1084 पृ. 87
21.	1599	तिथिविहीन	संगीतोपनिषतसारोद्धार	प्रतिलेखनप्रशस्ति	पुण्यप्रभसूरि एवं उनके शिष्य भीमा	भीमा	वही, क्रमांक 6365 पृ. 417-418
22.	1599	कार्तिक सुदि 6 शनिवार	औपपातिकसूत्र	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	कमलप्रभसूरि एवं उनके पट्टधर पुण्यप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 351 पृ. 32
23.	1605	भाद्रपद वदि 5 शुक्रवार	आचारांगदीपिका	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि एवं उनके पट्टधर कमलप्रभसूरि एवं उनके पट्टधर पुण्यप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 206 पृ. 18
24.	1608	वैशाख सुदि 13 शुक्रवार	यतिदिनचर्या	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	कमलप्रभसूरि एवं उनके पट्टधर पुण्यप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 2800 पृ. 140
25.	1609	चैत्र सुदि 5	प्रज्ञापनावृत्ति	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि के पट्टधर कमलप्रभसूरि के पट्टधर पुण्यप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 396 पृ. 36
26.	1611	पौष सुदि 9 मंगलवार	जिनस्तवनअवचूरि	प्रतिलेखनप्रशस्ति	पुण्यप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 1193 पृ. 90
27.	1624	चैत्र सुदि 5 शनिवार	त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित एवं परिशिष्टपर्व	प्रतिलेखनप्रशस्ति	भुवनप्रभसूरि के शिष्य पुण्यप्रभसूरि के पट्टधर विद्याप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 3783 पृ. 216.217
28.	1650	कार्तिक सुदि 5	तत्त्वचिन्तामणि	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	विद्याप्रभसूरि के शिष्य ललितप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 95 पृ. 10

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

29.	1654	आषाढ़ सुदि 13 शुक्रवार	पंचवस्तुकवृत्ति	प्रतिलेखन का दाता प्रशस्ति	ललितप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 2362 पृ. 121
30.	1675	आषाढ सुदि 13 गुरुवार	कल्पसूत्रान्तर्वाच्य	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	ललितप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 691 पृ. 59
31.	1677	आश्विन वदि 3 बुधवार	कल्पान्तरवाच्य टिप्पनक	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	ललितप्रभसूरि	वाचक गुणजी	वही, क्रमांक 700 पृ. 61
32.	1698	...वदि 10	भगवतीबीजक	प्रतिलेखनप्रशस्ति	ललितप्रभसूरि के पट्टधर विनयसूरि के पट्टधर मुनिहेमराज	मुनिहेमराज	वही, क्रमांक 280 पृ. 27
33.	1701	आश्विन 10 मंगलवार	शब्दशोभा	प्रतिलेखनप्रशस्ति	विनयप्रभसूरि	-	वही, क्रमांक 5951 पृ. 374-75
34.	1714	ज्येष्ठ वदि 13 शुक्रवार	उत्तराध्ययनसूत्र की संस्कृत छाया	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	विनयप्रभसूरि के शिष्य मुनिकीर्तिरत्न	विनयप्रभसूरि	वही, क्रमांक 998 पृ. 81
35.	1722	आश्विन वदि 3 मंगलवार	औपपातिकस्तवन	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	विनयप्रभसूरि	विनयप्रभसूरि	पूर्वोक्त, क्रमांक 360 पृ. 33
36.	1737	चैत्र 14 मंगलवार	न्यायसिद्धान्तमंजरी लघुचिन्तामणि	प्रतिलेखनप्रशस्ति	महिमाप्रभसूरि	महिमाप्रभसूरि	वही, क्रमांक 108 पृ. 10-11
37.	1750	तिथिविहीन	वरडाक्षेत्रपालस्तोत्र-अवचूरि	मूलप्रशस्ति	महिमाप्रभसूरि पट्टधर भावप्रभसूरि	-	वही, क्रमांकं 4343 पृ.265
38.	1761	आश्विन वदि 2 मंगलवार	तत्त्वार्थसूत्रबालावबोध	प्रतिलेखनप्रशस्ति	महिमाप्रभसूरि के शिष्य मुनि सहजरत्न	मुनि सहजरत्न	वही, क्रमांक 3473 पृ. 200
39.	1762	माघ सुदि 13 मंगलवार	ज्ञानसारअष्टक-बालावबोध	प्रतिलेखनप्रशस्ति	महिमाप्रभसूरि के शिष्य भावरत्नसूरि	भावरत्नसूरि	वही, क्रमांक 2488 पृ. 125-26

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

40.	1762	श्रावण सुदि 11	वीतरागकल्पलता	प्रतिलेखनप्रशस्ति	पुण्यप्रभसूरि के शिष्य विद्याप्रभसूरि के शिष्य ललितप्रभसूरि के शिष्य विनयप्रभसूरि के शिष्य महिमाप्रभसूरि		वही, क्रमांक 2533 पृ. 129-130
41.	1764		संग्रहणीप्रकरण	प्रतिलेखनप्रशस्ति	महिमाप्रभसूरि के पट्टधर भावरत्नसूरि	भावरत्नसूरि	वही, क्रमांक 3077 पृ. 169
42.	1767	तिथिविहीन	शब्दरत्नाकर	प्रतिलेखनप्रशस्ति	विनयप्रभसूरि के पट्टधर भावरत्नसूरि	भावरत्नसूरि	वही, क्रमांक 6214 पृ. 403-404
43.	1767	मार्गशीर्ष वदि 9	अंचलमतदलन-बालावबोध	प्रतिलेखनप्रशस्ति	महिमाप्रभसूरि के शिष्य मुनिलाल	मुनिलाल	वही, क्रमांक 3247 पृ. 178-179
44.	1772	कार्त्तिक सुदि 5 मंगलवार	सिद्धान्तकौमुदी	प्रतिलेखनप्रशस्ति	महिमाप्रभसूरि के शिष्य भावप्रभसूरि	-	वही,क्रमांक 5812 पृ. 369
45.	1781	मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशी	श्रीपालचरित्र	प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति	महिमाप्रभसूरि के शिष्य भावप्रभसूरि	भावप्रभसूरि	वही, क्रमांक 4206 पृ. 239
46.	1781		आष्टाहिकाधुराख्यान [गद्य]	मूलप्रशस्ति	विनयप्रभसूरि के पट्टधर महिमाप्रभसूरि के पट्टधर भावप्रभसूरि	भावप्रभसूरि	वही, क्रमांक 2333 पृ. 117
47.	1782	ज्येष्ठ शुक्ल 5	फाल्गुनचातुर्मासी-व्याख्यान	मूलप्रशस्ति	विद्याप्रभसूरि के पट्टधर ललितप्रभसूरि के पट्टधर विनयप्रभसूरि के पट्टधर महिमाप्रभसूरि के पट्टधर भावप्रभसूरि	भावप्रभसूरि	वही, क्रमांक 2326 पृ. 112
48.	1790	माघ वदि 13 बुधवार	द्वादशव्रतोच्चारविधि	प्रतिलेखनप्रशस्ति	भावप्रभसूरि	भावप्रभसूरि	वही, क्रमांक 2424 पृ. 121

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

49.	1790	माघ सुद ..?	नषधमहाकाव्य	प्रतिलेखनप्रशस्ति	महिमाप्रभसुरि के पट्टधर भावप्रभसुरि	भावप्रभसुरि	वही, क्रमांक 4779 पृ. 278-79
50.	1791	भाद्रपद वदि 8 सोमवार	जिनधर्मवरस्तव	मूल प्रशस्ति	भावप्रभसुरि एवं उनके गुरुभ्राता मुनिलाल	मुनिलाल	वही, क्रमांक 1511 पृ. 96
51.	1792	पौष वदि 2 शनिवार	कल्पसूत्रअन्तरवाच्य	मूल प्रशस्ति	भावप्रभसुरि एवं उनके शिष्य भावरत्न	भावप्रभसुरि	वही, क्रमांक 662 पृ. 54
52.	1793	माघ सुदि 7 गुरुवार	प्रतिमाशतकलघुवृत्ति	मूल प्रशस्ति	भावप्रभसुरि	-	पूर्वोक्त, क्रमांक 3263 पृ. 180-181
53.	1795	तिथिविहीन	धातुपाठविवरण	प्रतिलेखनप्रशस्ति	भावप्रभसुरि के पट्टधर भावरत्नसुरि	भावरत्नसुरि	वही, क्रमांक 6009 पृ. 387
54.	1795	भाद्रपद वदि 13 गुरुवार	महावीरस्तोत्रवृत्ति	मूल प्रशस्ति	भावप्रभसुरि	वही, क्रमांक 1759 पृ. 100	
55.	1798	तिथिविहीन	मुद्रितकुमुदचन्द्र	प्रतिलेखनप्रशस्ति	महिमाप्रभसुरि के पट्टधर भावप्रभसुरि	भावप्रभसुरि	वही, क्रमांक 5196 पृ. 337-338

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्तियों की उक्त तालिका में उल्लिखित मुनिजनों के पूर्वापर सम्बन्धों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

1. जयसिंहसूरि के पट्टधर जयप्रभसूरि
2. जयप्रभसूरि के पट्टधर यशस्तिलकसूरि, भुवनप्रभसूरि और जयमेरुसूरि
3. भुवनप्रभसूरि के पट्टधर कमलप्रभसूरि, मुनि राजसुन्दरसूरि, मुनिरत्नमेरुसूरि, कमलसंयमसूरि और वीरकलशसूरि
4. कमलप्रभसूरि के पट्टधर राजमाणिक्य और पुण्यप्रभसूरि
5. पुण्यप्रभसूरि के पट्टधर विद्याप्रभसूरि
6. विद्याप्रभसूरि के पट्टधर ललितप्रभसूरि
7. ललितप्रभसूरि के पट्टधर विनयप्रभसूरि
8. विनयप्रभसूरि के पट्टधर कीर्तिरत्नसूरि, मुनि हेमराजसूरि और महिमाप्रभसूरि
9. महिमाप्रभसूरि के पट्टधर भावप्रभसूरि, भावरत्नसूरि और मुनिलाल
10. भावप्रभसूरि के पट्टधर भावरत्नसूरि और ज्योतिरत्नसूरि

उक्त विवरण के आधार पर इन मुनिजनों के गुरु-शिष्य परम्परा की एक तालिका अथवा विद्या वंशवृक्ष तैयार होता है, जो इस प्रकार है --

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्तियों के आधार पर निर्मित पूर्णिमागच्छ [प्रधानशाखा] के मुनिजनों का वंशवृक्ष

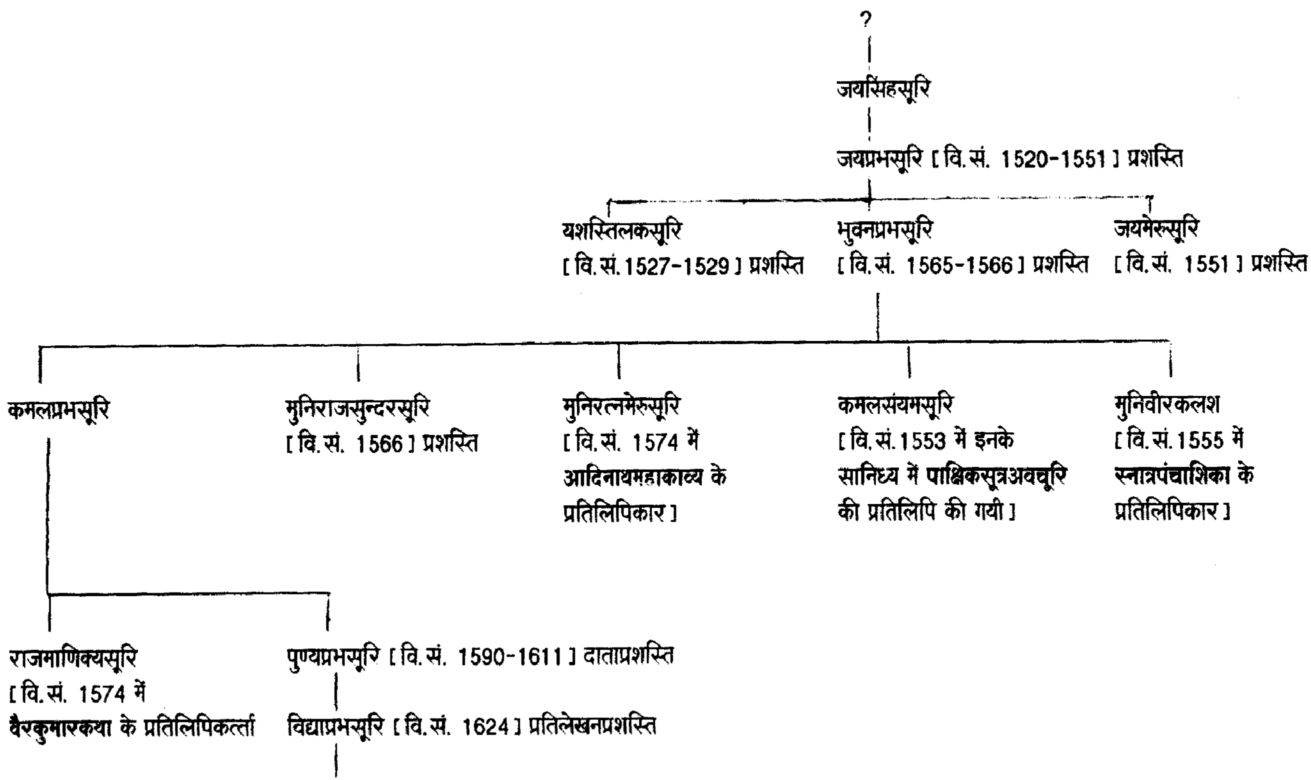

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ललितप्रभसूरि [वि. सं. 1650-1677] दाताप्रशस्ति

विनयप्रभसूरि [वि. सं. 1714-1722] प्रतिलेखनप्रशस्ति

कीर्तिरत्नसूरि [वि. सं. 1714 में प्रतिलिपित उत्तराध्ययनसूत्र की दाताप्रशस्ति में उल्लिखित]

मुनिहेमराजसूरि [वि. सं. 1698] प्रतिलेखनप्रशस्ति

महिमाप्रभसूरि [वि. सं. 1736] प्रतिलेखनप्रशस्ति

सहजरत्नसूरि [वि. सं. 1761] प्रतिलिपिप्रशस्ति

भावप्रभसूरि [वि. सं. 1781-1793]

ज्योतिरत्नसूरि

भावरत्नसूरि [वि. सं. 1762-1792]

मुनिलाल [वि. सं. 1767-1791]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने पूर्णिमागच्छ और उसकी कुछ शाखाओं की पट्टावली दी है। इनमें पूर्णिमागच्छ की प्रधानशाखा अपरनाम ढंढेरियाशाखा की भी एक पट्टावली है[1], जिसमें उल्लिखित इस शाखा की गुरु-परम्परा इस प्रकार है :-

चन्द्रप्रभसूरि [पूर्णिमागच्छ के प्रवर्तक]
|
धर्मघोषसूरि
|
समुद्रघोषसूरि
|
सुरप्रभसूरि [पूर्णिमापक्षीय प्रधानशाखा के प्रवर्तक]
|
जिनेश्वरसूरि
|
भद्रप्रभसूरि
|
पुरुषोत्तमसूरि
|
देवतिलकसूरि
|
रत्नप्रभसूरि
|
तिलकप्रभसूरि
|
ललितप्रभसूरि
|
हरिप्रभसूरि
|
जयसिंहसूरि
|
जयप्रभसूरि
|
भुवनप्रभसूरि
|
कमलप्रभसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

।
पुण्यप्रभसूरि
।
विद्याप्रभसूरि
।
ललितप्रभसूरि
।
विनयप्रभसूरि
।
महिमाप्रभसूरि
।
भावप्रभसूरि

पूर्णिमापक्षीय प्रधानशाखा के मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमायें भी प्राप्त हुई हैं जो वि.सं. 1512 से वि.सं. 1768 तक की हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :

जयसिंहसूरि के पट्टधर जयप्रभसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित 9 प्रतिमायें मिली हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :-

वि.सं. 1512	माघ सुदि 5 सोमवार	**जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह**, भाग 2 संपा. बुद्धिसागरसूरि, लेखांक 963
वि.सं. 1519	कार्त्तिक वदि 5 शुक्रवार	वही, लेखांक 743
वि.सं. 1519	कार्त्तिक वदि 5 शुक्रवार	**प्राचीनलेखसंग्रह** संग्राहक विजयधर्मसूरि, लेखांक 329
वि.सं. 1519	माघ सुदि 5 सोमवार	**श्रीप्रतिमालेखसंग्रह** संपा. दौलतसिंहलोढा, लेखांक 261
वि.सं. 1521	माघ पूर्णिमा गुरुवार	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग 1, लेखांक 578
वि.सं. 1525	वैशाख वदि 11 रविवार	वही, भाग 1, लेखांक 1492
वि.सं. 1525	माघ वदि 5	**प्रतिष्ठालेखसंग्रह** संपा. विनयसागर, लेखांक 667
वि.सं. 1528	कार्त्तिक सुदि 12 शुक्रवार	**जैनलेखसंग्रह** भाग 3, संपा. पूरनचन्द नाहर, लेखांक 2349
वि.सं. 1531	फाल्गुन सुदि 8 सोमवार	**राधनपुरप्रतिमालेखसंग्रह** संपा. मुनि विशालविजय, लेखांक 274

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयप्रभसूरि के पट्टधर जयभद्रसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित तीन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :-

वि.सं. 1525	वैशाख सुदि 3 सोमवार	बीकानेरजैनलेखसंग्रह संपा. अगरचन्द, भंवरलाल नाहटा, लेखांक 1315
वि.सं. 1534	आषाढ़ सुदि 1 गुरुवार	वही, लेखांक 1434
वि.सं. 1536	आषाढ़ सुदि 5 गुरुवार	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक 796

जयप्रभसूरि के द्वितीय पट्टधर भुवनप्रभसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित 2 प्रतिमायें मिलती हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :

वि.सं. 1551	पौष सुदि 13 शुक्रवार	नाहर, पूर्वोक्त, भाग 3, लेखांक 2202
वि.सं. 1572	वैशाख वदि 4 रविवार	लोढ़ा, पूर्वोक्त, लेखांक 101

कमलप्रभसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित एक प्रतिमा प्राप्त हुई है जो संभवनाथ की है। यह प्रतिमा आदिनाथ जिनालय, थराद में है। इसका विवरण निम्नानुसार है :-

वि.सं. 1582	वैशाख सुदि 3	लोढ़ा, पूर्वोक्त, लेखांक 207

कमलप्रभसूरि के पट्टधर पुण्यप्रभसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित 2 प्रतिमायें मिलती हैं जिनका विवरण इस प्रकार है :-

वि.सं. 1608	वैशाख सुदि 13 शुक्रवार	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग 1 लेखांक 124
वि.सं. 1610	फाल्गुन वदि 2 सोमवार	मुनि विशालविजय, पूर्वोक्त, लेखांक 348

विद्याप्रभसूरि के पट्टधर ललितप्रभसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठापित एक प्रतिमा मिली है, जिस पर वि.सं. 1654 का लेख उत्कीर्ण है:

वि.सं. 1654	माघ वदि 1 रविवार	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग 1, लेखांक 101

महिमाप्रभसूरि

इनके द्वारा प्रतिष्ठित वि.सं. 1768 की एक प्रतिमा मिली है :

वि.सं. 1768	वैशाख सुदि 6 गुरुवार	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग 1, लेखांक 332

उक्त अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा पूर्णिमापक्ष की प्रधानशाखा के जिन मुनिजनों के नाम ज्ञात होते हैं, उनमें जयप्रभसूरि के शिष्य जयभद्रसूरि को छोड़कर शेष सभी नाम पुस्तकप्रशस्तियों में भी मिलते हैं साथ ही उनका पूर्वापर सम्बन्ध भी सुनिश्चित किया जा चुका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री देसाई द्वारा दी गयी पूर्णिमापक्ष प्रधानशाखा की पट्टावली में सर्वप्रथम पूर्णिमागच्छ के प्रवर्तक चन्द्रप्रभसूरि का उल्लेख है। इसके बाद धर्मघोषसूरि एवं उनके बाद समुद्रघोषसूरि का नाम आता है। उक्त पट्टावली के अनुसार समुद्रघोषसूरि के शिष्य सुरप्रभसूरि से पूर्णिमागच्छ की प्रधानशाखा का आविर्भाव हुआ। वि.सं. 1252 में पूर्णिमागच्छीय मुनिरत्नसूरि द्वारा रचित **अममस्वामिचरित्रमहाकाव्य** की प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपने गुरुभ्राता सुरप्रभसूरि का उल्लेख किया है। पट्टावली में सुरप्रभसूरि के बाद जिनेश्वरसूरि, भद्रप्रभसूरि, पुरुषोत्तमसूरि, देवतिलकसूरि, रत्नप्रभसूरि, तिलकप्रभसूरि, ललितप्रभसूरि, हरिप्रभसूरि आदि 8 आचार्यों का पट्टानुक्रम से जो उल्लेख है, उनके बारे में अन्यत्र कोई सूचना नहीं मिलती। हरिप्रभसूरि के शिष्य जयसिंहसूरि का अभिलेखीय साक्ष्यों में उल्लेख मिलता है। चूंकि भुवनप्रभसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमायें वि.सं. 1512 से वि.सं. 1531 तक की हैं अतः उनके गुरु जयसिंहसूरि का समय वि.सं. 1500 के आस-पास माना जा सकता है। चूंकि इस शाखा के प्रवर्तक सुरप्रभसूरि के गुरुभ्राता मुनिरत्नसूरि का समय वि.सं. की तेरहवीं शती का द्वितीयचरण [वि.सं. 1252] सुनिश्चित है, अतः यही समय सुरप्रभसूरि का भी माना जा सकता है। सुरप्रभसूरि से जयसिंहसूरि तक 250 वर्षों की अवधि तक 10 आचार्यों का नायकत्व काल असंभव नहीं लगता। इस आधार पर सुरप्रभसूरि से जयसिंहसूरि तक की गुरु-परम्परा, जो पट्टावली में दी गयो है, प्रामाणिक मानी जा सकती है। इसी प्रकार जयसिंहसूरि और उनके पट्टधर जयप्रभसूरि से लेकर भावप्रभसूरि तक जिन 9 आचार्यों का नाम पट्टावली में आया है, वे सभी **पुस्तकप्रशस्तियों** द्वारा निर्मित पट्टावली में आ चुके हैं। इस प्रकार श्री देसाई द्वारा प्रस्तुत पूर्णिमागच्छ की प्रधानशाखा की एक मात्र उपलब्ध पट्टावली की प्रामाणिकता असंदिग्ध सिद्ध होती है।

ग्रन्थप्रशस्तियों के आधार पर निर्मित **पूर्णिमागच्छ प्रधानशाखा** की गुरु-परम्परा की तालिका जयसिंहसूरि से प्रारम्भ होती है और जयसिंहसूरि के पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम एवं पट्टानुक्रम श्री देसाई द्वारा प्रस्तुत **पट्टावली** से ज्ञात हो जाते हैं, अतः इस शाखा की गुरु-परम्परा की एक विस्तृत तालिका निर्मित होती है, जो इस प्रकार है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित पूर्णिमागच्छप्रधानशाखा के मुनिजनों का विद्यावंशवृक्ष

चन्द्रप्रभसूरि [पूर्णिमागच्छ के प्रवर्तक, वि.सं. 1149]
|
धर्मघोषसूरि
|
समुद्रघोषसूरि (परमारनरेश) नरवर्मा [वि.सं. 1151/ई.सन् 1094-
वि.सं. 1190/ई.सन् 1133 और
जयसिंह सिद्धराज [वि.सं. 1151/ई.सन्
1095-वि.सं. 1199/ई.सन् 1143 के राजदरबार में सम्मानित]
|
सुरप्रभसूरि [प्रधानशाखा या टंटेरिया शाखा के प्रवर्तक]
|
जिनेश्वरसूरि
|
भद्रप्रभसूरि
|
पुरुषोत्तमसूरि
|
देवतिलकसूरि
|
रत्नप्रभसूरि
|
तिलकप्रभसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ललितप्रभसूरि [प्रथम]
|
हरिप्रभसूरि
|
जयसिंहसूरि
|
जयप्रभसूरि [वि. सं. 1512-1551] प्रशस्ति एवं प्रतिमालेख

जयभद्रसूरि [वि. सं. 1525-34] प्रतिमालेख
यशस्तिलकसूरि [वि. सं. 1527-29] प्रशस्ति में उल्लिखित
भुवनप्रभसूरि [वि. सं. 1551-1572] प्रशस्ति एवं प्रतिमालेख
जयमेरुसूरि [वि. सं. 1551] प्रशस्ति

कमलप्रभसूरि [वि. सं. 1582] प्रतिमालेख
मुनिराजसुन्दरसूरि [वि. सं. 1566] प्रशस्ति
मुनिरत्नमेरुसूरि [वि. सं. 1574 में आदिनाथमहाकाव्य के प्रतिलिपिकार]
कमलसंयमसूरि [वि. सं. 1553 में इनके सानिध्य में पाक्षिकसूत्रअवचूरि की प्रतिलिपि की गयी]
मुनिवीरकलश [वि. सं. 1555 में स्नात्रपंचाशिका के रचनाकार]

माणिक्यसूरि
पुण्यप्रभसूरि [वि. सं. 1590-1611] प्रशस्ति एवं प्रतिमालेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्याप्रभसूरि [वि.सं. 1624] प्रतिलेखन प्रशस्ति

ललितप्रभसूरि [द्वितीय] [वि.सं. 1650-1677] प्रशस्ति एवं प्रतिमालेख

विनयप्रभसूरि [वि.सं. 1714-1722] प्रतिलेखन प्रशस्ति

कीर्तिरत्नसूरि [वि.सं. 1714] प्रतिलिपिप्रशस्ति

मुनिहेमराजसूरि [वि.सं. 1689] प्रतिलेखनप्रशस्ति

महिमाप्रभसूरि [वि.सं. 1736-1768] प्रशस्ति एवं प्रतिमालेख

सहजरत्नसूरि [वि.सं. 1761] प्रतिलिपिप्रशस्ति

भावप्रभसूरि [वि.सं. 1783-1791] प्रशस्ति

मुनिज्योतिरत्न

भावरत्नसूरि [वि.सं. 1762-1792] प्रशस्ति

मुनिलाल [वि.सं. 1767-1791] प्रशस्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ

१. मोहनलाल दलीचन्द देसाई - जैनगूर्जरकविओ भाग ३, खण्ड २, मुम्बई १९४४ ईस्वी, पृष्ठ २२३६-२२४१.

२. Muni Punyavijaya-Catalogue of Palm-Leaf Mss In the Shanti Natha Jain Bhandar, Cambay, [G.O.S. No. 135 and 149] Baroda, 1961-66 A.D., pp. 269-270.

रिसर्च एसोसिएट, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी-५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दार्शनिक साहित्य में ईश्वरवाद की समालोचना

[शोध-प्रबन्ध-सार]

- *श्रीमती मंजुला भट्टाचार्य*

भारतीय दर्शनों में सामान्यतया जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन को नास्तिक और अनीश्वरवादी दर्शन कहा जाता है। यद्यपि आस्तिक दर्शन में भी मीमांसा और सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन कहे जा सकते हैं क्योंकि इन दर्शनों में भी न केवल ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व का निषेध है, अपितु इनमें ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा का भी अभाव पाया जाता है। कुछ दार्शनिक ऐसा भी मानते हैं कि सांख्य दार्शनिकों का एक वर्ग ऐसा रहा है, जो ईश्वर को स्वीकार करता है, उसे सेश्वर सांख्य दर्शन के नाम से जाना जाता है। योग दर्शन में यद्यपि एक आदर्श के रूप में ईश्वर की अवधारणा उपस्थित है फिर भी उसमें ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता नहीं माना गया। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान मानकर भी उसे तार्किक दृष्टि से सृष्टिकर्त्ता स्वीकार नहीं किया गया है। सृष्टिकर्त्ता के रूप में उन्होंने माया से युक्त ब्रह्म के रूप में ईश्वर की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। सामान्यरूप में भारतीय दर्शनों में न्याय-वैशेषिक और उत्तर मीमांसा (वेदान्त के कुछ सम्प्रदाय) ही ऐसे दर्शन हैं, जो ईश्वर को सृष्टि कर्ता के रूप में स्वीकर करते हैं। अन्य सभी दर्शनों ने या तो इस सम्बन्ध में मौन रखा है या फिर इस अवधारणा की समीक्षा की है।

भारतीय दर्शन में जिन दर्शनों ने ईश्वरवाद की समीक्षा की है, उनमें चार्वाक, जैन और बौद्ध प्रमुख हैं। यत्र-तत्र उद्धृत कुछ श्लोकों और तत्वोत्पल्लवसिंह को छोड़कर चार्वाक दर्शन का अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। इस दर्शन में ईश्वरवाद की संक्षिप्त समीक्षा ही उपलब्ध होती है। कोई विस्तृत समीक्षात्मक विवरण उपलब्ध नहीं होता है। ईश्वरवाद की समीक्षा के संदर्भ में जैन और बौद्ध साहित्य में प्राचीन काल से ही उल्लेख मिलते हैं। मध्य युग में तो इस सम्बन्ध में विपुल समीक्षात्मक साहित्य लिखा गया है।

जैन दार्शनिकों ने नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को स्वीकार करते हुए भी वैयक्तिक ईश्वर और ईश्वर के सृष्टि कर्त्तृत्व की समीक्षा की है। जैन दार्शनिकों के अनुसार वैयक्तिक आत्मा ही नैतिक सद्गुणों का आचरण करते हुए अपने कर्ममल का शोधन करके परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। उनके अनुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की क्षमता निहित है। "अप्पा सो परमप्पा" जैन दर्शन का मूल मंत्र है। उनके अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा स्वरूप है। जैसे बीज में वृक्ष अव्यक्त रूप से निहित होता है उसी प्रकार आत्मा में परमात्मा प्रसुप्त या निहित है। फिर भी वे परमात्मा को सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादिकाल से प्रवाहमान हैं। उसमें स्वाभाविक रूप से ही उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया चलती रहती है, किन्तु उसका कोई कर्त्ता नहीं है। उनके अनुसार ये सब प्राकृतिक घटनायें है। संसार उत्पत्ति और विनाश से युक्त होकर भी अपने प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। उनका कहना है कि इस जगत् में सभी कुछ सुन्दर और शुभ नहीं है। बहुत कुछ असुन्दर, अशुभ और दुःख रूप भी है। इसलिए जिस जगत् में दुःख और पीड़ायें हों, उसका कर्त्ता परम कौणिक एवं बुद्धिमान ईश्वर नहीं हो सकता। यदि ईश्वर को इस सृष्टि के लिए प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों पर निर्भर माना जाय या उसको इसकी रचना के लिए पृथ्वी आदि महाभूतों या परमाणुओं आदि का सहारा लेना आवश्यक हो, तो फिर उसका ईश्वरत्व नहीं रह जाता है। जो सृष्टि की रचना के लिए अन्य तथ्यों पर निर्भर रहता है, वह ईश्वर नहीं हो सकता। जैन आचार्यों ने ईश्वरवाद की समीक्षा करते हुए ऐसे अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हमारा उद्देश्य उन सभी तर्कों को क्रमबद्ध रूप में पुनः उपस्थित करना है। इसी उद्देश्य से इस शोध-प्रबन्ध को निम्न अध्यायों में विभक्त करके कालक्रम में जैन चिन्तकों के विचारों का संकलन किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रथम अध्याय में हमने मुख्य रूप से जैन धर्म की दार्शनिक विशेषताओं का उल्लेख किया है। शोध प्रबन्ध का दूसरा अध्याय जैन आगम साहित्य में ईश्वरवाद की समीक्षा से सम्बन्धित है। जैन आगमों में प्रमुख रूप से सूत्रकृतांग और प्रश्नव्याकरण में ईश्वरवाद की समीक्षा की गयी है। यद्यपि यह समीक्षा अतिसंक्षिप्त ही है और इसमें ठोस तर्कों का अभाव परिलक्षित होता है। तृतीय अध्याय में जैन दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध ईश्वरवाद की समीक्षा का संकलन किया गया है। जैन दार्शनिकों में समन्तभद्र, सिद्धसेन, जिनभद्र, हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन दार्शनिकों ने विपुल मात्रा में दार्शनिक साहित्य का सृजन किया है और उसमें उन्होंने ईश्वरवाद की समीक्षा भी की है। यद्यपि ईश्वरवाद की समीक्षा के बहुत से तर्क सभी दार्शनिको की कृतियों में समान रूप में ही पाये जाते हैं फिर भी ईश्वरवाद की समीक्षा के तार्किक विकास को समझने की दृष्टि से हमने अलग-अलग रूप में ही इन दार्शनिकों का विवरण प्रस्तुत किया है। चौथा अध्याय मध्यकालीन जैन दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध ईश्वरवाद की समीक्षा से सम्बन्धित है। इसमें हमने मुख्य रूप से 12वीं शताब्दी के पश्चात् के विचारकों को ही स्थान दिया है। इस युग में जैन आचार्यों द्वारा मरु-गुर्जर और हिन्दी भाषा में अधिकांश साहित्य निर्मित किया गया है, उसी को आधार बनाकर इस अध्याय में ईश्वरवाद सम्बन्धी विचारों का संकलन किया गया है। इस प्रकार हमने प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग के सभी प्रमुख जैन चिन्तकों के ईश्वरवाद सम्बन्धी विचारों को संकलित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि यह समग्र लेखन विवरणात्मक ही है, फिर भी इससे विभिन्न युगों में ईश्वरवाद के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों की क्या दृष्टि रही है, इसका अभिज्ञान हो जाता है। यद्यपि प्रारम्भ से ही जैन दार्शनिक ईश्वरवाद के विरोधी ही रहे, किन्तु उनका यह विरोध ईश्वर की अवधारणा की अपेक्षा ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व के विषय में ही अधिक रहा है। जैन दार्शनिक किसी वैयक्तिक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु सभी व्यक्तियों में प्रसुप्त परमात्म-तत्त्व उन्हें स्वीकार है। वे यह मानते हैं कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक व्यक्ति अपने साधना के बल पर परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। उनकी ईश्वरवाद की समीक्षा में मुख्य रूप से यह बात भी निहित है कि वे मनुष्य को ईश्वर का दास बनाने की अपेक्षा उसे स्वयं ईश्वर बना देते हैं। वे भक्त को भक्त बनने के स्थान पर भगवान बनने की प्रेरणा देते हैं। उनके इन विचारों को एक उर्दू शायर ने बहुत सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। वह लिखता है कि --

ईंसा की बद्बख्ती अंदाज से बाहर है।
कमबख्त खुदा होकर बंदा नजर आता है।।

यद्यपि जैन दार्शनिकों ने ईश्वर के कर्तृत्व की समीक्षा की है, किन्तु हरिभद्र जैसे कुछ जैन आचार्य ऐसे भी हुए हैं, जो अपेक्षा विशेष से ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व को जैन विचारों से समन्वित करते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा है और प्रत्येक आत्मा अपनी भव-परम्परा अथवा संसार का निर्माता है और इस रूप में वह संसार (सृष्टि) का कर्ता भी है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने न केवल ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व की समीक्षा की है किन्तु जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में उसे समन्वित भी किया है और यही उनकी विशेषता है।

शोध छात्रा - पार्श्वनाथ शोध पीठ, वाराणसी-5.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुस्तक-समीक्षा

'गच्छाचार-पयन्ना', संयोजक-- जगत्पूज्य सौधर्म बृहत्तपोगच्छीप भट्टारक श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्वर जी महराज, संशोधक-- उपाध्याय श्री गुलाब विजय जी महाराज, प्रकाशक-- मुनिराज जी जयानन्द विजय जी के सदुपदेश से शा अमीचंद जी ताराजी दाणी, मु.पो. धानसा (जिला-जालोर) राजस्थान, आकर-- डिमाई 16 पेजी, पृष्ठ-संख्या 320, मूल्य 100/=

जैन आगम परम्परा ग्रन्थों में प्रकीर्णकों का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। यद्यपि परम्परानुसार मात्र 10 प्रकीर्णक ही 45 आगमों की गणना में सम्मिलित हैं किन्तु उपलब्ध प्रकीर्णकों की संख्या अधिक है। महावीर विद्यालय बम्बई से पइण्णयसुत्ताइं नामक जो ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित हुआ है उसके प्रथम भाग में 20 प्रकीर्णक प्रकाशित हैं। इन प्रकीर्णकों में गच्छाचार प्रकीर्णक भी एक हैं। इसे पूर्वाचार्य प्रणीत माना जाता है। इसका ग्रन्थ का आधार मुख्य रूप से बृहत्-कल्प, व्यवहार, निशीथ महानिशीय आदि छेद सूत्र ही माने गये हैं। इसमें मुख्य रूप से मुनि आचार का विवरण है। संघ में साधु-साध्वी किस प्रकार रहें, यही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है। यह प्रकीर्णक पूर्व में उपाध्याय श्री गुलाव विजय जी प.सा. द्वारा वि.सं. 2002 में प्रकाशित हुआ था। यह उस ग्रन्थ की द्वितीय आवृत्ति है। इसके प्रेरक हैं -- मुनि श्री जयानन्द विजय। इसके अनुवाद की भाषा गुजराती है, किन्तु उसे देवनागरी में मुद्रित किया गया है। अतः देवनागरी लिपि के माध्यम से हिन्दी भाषी भी इसका लाभ उठा सकते हैं। इसमें कुल 137 गाथाएं है। उपाध्याय श्री ने न केवल इनका गुजराती अनुवाद प्रस्तुत किया, बल्कि उन पर विवेचन भी लिखा है। इस ग्रन्थ में गुरु-शिष्य सम्बन्ध एवं साधु-साध्वी जीवन के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है इस दृष्टि से साथ ही संघीय जीवन का एक सुव्यवस्थित चित्रण भी इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। कृति महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए प्रकाशक एवं प्रेरक धन्यवाद के पात्र हैं।

❀

मध्यकालीन जैन सट्टक-नाटक, डॉ. राजाराम जैन एवं डॉ. (श्रीमती) विद्यावती जैन, पृ.168, मूल्य 24.00, प्रथम संस्करण - फरवरी 1992 ई., प्रकाशक - प्राच्य श्रमण भारती।

मध्यकाल के जैन नाटककारों में कविवर हस्तिमल्ल और नयचन्द्र सूरि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके नाटक और सट्टक साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के हैं, फिर भी दुर्भाग्यवश प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर सके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्हीं विस्मृत प्रायः श्रेष्ठ कवियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निम्नलिखित नाटकों के निम्नलिखित छात्रोपयोगी सरस अंश हिन्दी अनुवाद के साथ संकलित हैं--

1.	सुभद्रानाटिका (तृतीयांक)	हस्तिमल्लकृत
2.	अंजना पवनंजय नाटक (चतुर्थांक)	हस्तिमल्लकृत
3.	मैथिली कल्याण नाटक (चतुर्थांक)	हस्तिमल्लकृत
4.	रम्भामंजरी (प्रथमांक)	नयचन्द्र सूरिकृत

भूमिका में महाकवि हस्तिमल्ल के जीवन-परिचय के साथ उनकी रचनाओं एवं रचना-वैशिष्ठ्य का उल्लेख करते हुये उन्हें आद्य जैन नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। ग्रन्थ के उत्तरार्ध में छात्रों के लाभ की दृष्टि से महाकवि हस्तिमल्ल एवं नयचन्द्रसूरि के नाटकों का संक्षिप्त समीक्षात्मक अध्ययन, कथावस्तु, नाट्य-शिल्प, सट्टक का स्वरूप, नाटिका और सट्टक में अन्तर, पात्रों का चरित्र-चित्रण, तात्कालिक सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, नाटकों में प्राकृत भाषा का स्वरूप तथा अन्य अपेक्षित विषयों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। परिशिष्ट में प्राकृत के प्रमुख अंशों का संस्कृत रूपान्तर है, जिस से छात्र पर्याप्त लाभान्वित होंगे।

इस संकलित पाठ्य ग्रन्थ के माध्यम से भारतीय साहित्याकाश के दो ऐसे भास्वर नक्षत्रों को छात्रों एवं जनसमाज के समक्ष लाने का श्लाघ्य एवं पवित्र प्रयास किया गया है जिन्हें हम लगभग भूल चुके थे।

❀

जैन परामनोविज्ञान, लेखक-- मुनि डॉ. राजेन्द्र रत्नेश, साध्वी-- डॉ. प्रभाश्री, प्रकाशक-- श्री अम्बा गुरू शोध संस्थान, उदयपुर, राजस्थान, आकार- डिमाई 16 पेजी, पृष्ठ-संख्या 127+11=138, मूल्य 50/=

प्रस्तुत कृति डॉ. मुनि राजेन्द्र रत्नेश और साध्वी डॉ. प्रभाश्री जी के द्वारा संयुक्त रूप से प्रणीत है। यह कृति पाँच अध्याय में विभक्त है। प्रथम अध्याय में परामनोविज्ञान के स्वरूप का चित्रण है। साथ ही इसमें प्रेतविधा, सम्मोहन, अतिन्द्रिय ज्ञान शक्ति का भी सामान्य विवरण है। द्वितीय अध्याय में पुर्नजन्म की अवधारण को प्रस्तुत करते हुए जाति स्मरण ज्ञान की चर्चा की गई है। तृतीय अध्याय मुख्य रूप से प्रेत जीवन की सम्भावना एवं तत्सम्बन्धी साक्ष्यों का विवरण देता है। चतुर्थ अध्याय में अतिन्द्रिय दृष्टि एवं दूरबोध, से सम्बन्धित है। जबकि पंचम अध्याय में स्वप्नों के माध्यम से होने वाले पूर्वाभासों की चर्चा करता है। विद्वान लेखक द्वय ने इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त विवेचन में न केवल जैन आगमों के आधार पर विवरण प्रस्तुत किया है, अपितु आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों का भी यथा स्थान निर्देश किया है। यद्यपि पराविज्ञान के क्षेत्र में अब इतनी खोजें हो चुकी है कि उन सब को आधार बनाकर जैन अवधारणाओं के सन्दर्भ में एक बहुत ही प्रमाणिक ग्रन्थ की रचना की जा सकती है। मुनि जी अभी युवा हैं और इस क्षेत्र में यह उनका प्रथम प्रयास है, अपेक्षा है कि वे भविष्य में पाश्चात्य भाषाओं में प्रकाशित परामनोविज्ञान सम्बन्धी सामग्री का अध्ययन करके इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन करेंगे।

❊

भगवत्ता फैली सब ओर (कुन्द-कुन्दवाणी) लेखक-- महोपाध्याय चन्द्र प्रभसागर, पृ. 110, आकार- क्राउन 16 पृष्ठीय, पेपरबैक संस्करण प्रथम, सन् 1991, प्रकाशक-- जितयशाश्री फाउण्डेशन, 9-सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट, कलकत्ता, मूल्य 10/=

प्रस्तुत लघु गुन्थ महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभासागर द्वारा ऋषिकेश चातुर्मास के समय अष्टपाहुड पर दिये गये आठ आध्यात्मिक प्रवचनों का संकलन है, इसमें सरल भाषा में विषय को बोधगम्य बनाया गया है। इसमें कुन्द-कुन्द की गाथाओं को आधार बनाकर दर्शन को जीवन में उतारने, बहिर्जगत के प्रति उपेक्षा भाव रखने, सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की अभिलाषा, ध्यान मार्ग एवं मार्ग फल आदि विषयों को प्रभावी ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है। प्रवचनों के बीच सटीक दृष्टान्तों से विषय अत्यन्त सहजता से हृदयग्राही हो जाता है।

पुस्तक की छपाई एवं साज-सज्जा आकर्षक है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। पुस्तकों को लागत मूल्य पर उपलब्ध कराने का जितयशाश्री फाउण्डेशन का प्रयास सराहनीय है।

❊

प्राकृत एवं जैनविद्या शोध-सन्दर्भ (संकलन), लेखक-- डॉ. कपूरचन्द जैन, पृ. 130, आकार- डिमाई सजिल्द, द्वितीय संस्करण 1991, प्रकाशक-- कैलाशचन्द्र जैन स्मृतिन्यास खतौली (यू.पी.)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय संस्करण का विषय क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। इसमें भारत में हो रहे शोध प्रबन्धों की संख्या में स्वाभाविक रूप से वृद्धि होने के साथ-साथ, देश एवं विदेश में इस क्षेत्र में सम्पन्न शोधों के अतिरिक्त हो रहे कार्यों की भी सूची दी गयी है। इसमें मात्र शोध-प्रबन्धों की ही सूचना नहीं दी गयी है। अपितु जैन विद्या के क्षेत्र में कार्य कर रहे स्वतन्त्र संस्थानों, विश्वविद्यालयों में स्वतन्त्र प्राकृत एवं जैन विद्या विभागों की भी सूची दी गयी है। साथ ही शोध निर्देशकों की अलग सूची भी दी गई है।

❋

समाधान की ज्योत, समाधान कर्त्ता-- मुनिजयानन्द विजयजी, प्रकाशक-- श्री श्वेताम्बर जैनसंघ, धाणसा, जालौर (राजस्थान), वि.सं. 2047, मूल्य--

प्रस्तुत कृति प्रश्नोत्तर के रूप में है। इसमें जैन धर्म और जैन आचार से सम्बन्धित 326 प्रश्नों के उत्तर दिये गए हैं। जैन आचार को सम्यक् रूप से समझने के लिए यह कृति निश्चय ही उपयोगी है। प्रश्नोत्तर शैली में रचित होने के कारण यह सुबोध भी है। कृति की विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में आगम ग्रन्थों का प्रमाण दिया है। सन्दर्भों में कहीं-कहीं पृष्ठ, क्रमांक या सूत्रक्रमांक आदि का निर्देश न होने से उन लोगों को कठिनाई हो सकती है, जो इसके मूल स्रोत को प्रमाणिक रूप से जानना चाहते हैं। कृति निश्चय ही पठनीय व संग्रहणीय है।

❋

सम्यक् जिनेन्द्र गुण गंगा, रचयिता-- मुनिराजश्री सम्यग्रत्नविजयजी म.सा., प्रकाशक-- धेवरचन्द हिम्मत मल तिलेसरा, अबिंल खाता की सेरी, आहोर (जालौर, राजस्थान) 307029, सन् 1991

प्रस्तुत कृति में मुख्य रूप से सम्यग्रत्नविजयजी के द्वारा रचित भक्ति गीतों व शताधिक स्तवनों का संकलन है। सभी स्तवन आध्यात्मिक साधना के उपदेशों से युक्त हैं, फिर भी अनेक स्तवनों में कवि ने अपने आराध्य के सम्मुख अपने हृदय को खोलकर रख दिया है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके कारण ये रचनाएं भक्ति रस का आनन्द देने में भी पूर्ण समर्थ है। भाषा सुबोध एवं सरल है। आध्यत्मरसिकों के लिए कृति पठनीय है।

❋

आधुनिक विज्ञान एवं गीता का ब्रह्म, लेखक-- विजयशंकर राय, प्रकाशक-- ज्ञान-विज्ञान शोध संस्थान, अभिनव काम्पलेक्स, जयप्रकाश कालोनी (कार्यालय के पास), अधारताल वार्ड, जबलपुर (म.प्र.), पिन 482002, ई. 1992, मूल्य- 60/=

प्रस्तुत कृति को अध्यायों के स्थान पर खण्डों में विभक्त किया गया है। इसके विभिन्न खण्डों में क्रमशः प्राचीन और आधुनिक दर्शन, भारतीय दर्शन, दर्शन के उद्देश्य, तत्वमीमांसा, विश्व विज्ञान, विज्ञान दर्शन, सूक्ष्म जगत् और जैविक ऊर्जा, अनन्त की ओर, जैविक ऊर्जा विकासवाद, आत्मा जीव व मन, मानव निर्माण और कलम विधि, गीता का ब्रह्म, धर्म और उसकी चेतना, धर्म और धार्मिक अनुभूति, काल-अक्षयकाल, महाकाल, ज्ञान और ब्रह्म एवं प्राणियों में पायी जाने वाली विकृतियाँ : तात्त्विक-कारण का विवेचन किया गया है। कृति की विशेषता यह है कि इसके प्रतिपाद्य विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन किया गया है और उस सन्दर्भ में पाश्चात्य वैज्ञानिकों के अनेक सन्दर्भ भी प्रस्तुत किये गए हैं। साथ ही उन्होंने अधुनिक मनोविज्ञान विशेषतः फ्रायड आदि की व्याख्यों का उपयोग किया है। वस्तुतः यह कृति दार्शनिक अवधारणाओं को वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष में देखने का प्रयास है, लेखक ने अन्त में वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि परम तत्व, निर्गुण एवं आश्चर्यजनक है। कृति का मुद्रण निर्दोष व साज-सज्जा आकर्षक है। कृति पठनीय व संग्रहणीय है।

❋

'सागरणा स्मरण तीर्थं', लेखक-- पूज्य श्री मनोहरकीर्तिसागर सूरीश्वर जी तथा डा. कुमारपाल देसाई, संपादक-- पूज्य श्री अजयकीर्तिसागर जी एवं पूज्य श्री विजयकीर्तिसागरजी, प्रकाशक-- श्री अविचल ग्रन्थ प्रकाशन समिति, मूल्य-- अमूल्य, प्राप्ति स्थान-- श्री बुद्धिसागर सूरीश्वर जैन समाधि मन्दिर, स्टेशन रोड, बीजापुर (गुजरात), पिन-882370।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति में योगनिष्ठ आचार्य देवेश श्रीमद्, बुद्धिश्वर सागर सूरि जी, समता साधक, आचार्य प्रवर श्रीमद् कीर्तिसागर सूरीश्वर जी एवं प्रवचन प्रभावक गच्छाधिपति, आचार्य श्री सुबोधसागर सूरीश्वर जी इन तीन महान साधक आत्माओं एवं प्रभावक आचार्यों का जीवन वृतांत वर्णित है। ये तीनों ही चारित्रात्मायें श्वेताम्बर मूर्ति पूजक जैन संघ की महान विभूतियाँ हैं। प्रस्तुत कृति में इन तीनों के व्यक्तित्व एवं संघ कार्यों का गुजरती भाषा में अत्यन्त रोचक और प्रभावपूर्ण वर्णन है। उनका प्रमाणिक जीवन वृत्त, धर्मसाधना तथा उनके द्वारा किये गए महत्त्वपूर्ण कार्यों का विवरण देने के कारण यह कृति भविष्य में जैन इतिहास के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। कृति में इन तीनों आचार्यों के जीवन से सम्बन्धित अनेक सुन्दर एवं मनमोहक चित्र निश्चय ही पाठकों को प्रभावित करते हैं। कृति का मुद्रण अत्यन्त ही सुन्दर व निर्दोष है। इसमें बहुत ही मूल्यवान विदेशी कागज का उपयोग किया गया है। चित्रों का बहुरंगी मुद्रण एवं अतिकलात्मक आवरण सहज ही पाठकों के मन को मोह लेता है। कुमारपाल देसाई जैसे प्रबुद्ध विचारक की लेखनी से निश्रृत यह कृति अत्यन्त आकर्षक बन पड़ी है। कृति के अन्त में सुबोध सागर जी म.सा. के सचित्र जीवन आलेखन के साथ २४ तीर्थंकरो की अधिष्ठायिका देवियों, सोलह विद्या देवियों तथा २४ यक्षों के भी सुन्दर रंगीन चित्र हैं, जो कि कृति के महत्त्व को बढ़ा देते हैं, कृति संग्रहणीय है।

❋

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ शोधपीठ परिसर

१० अक्टूबर, निदेशक द्वारा बीकानेर में पूज्य यति श्री जिनचन्द्र जी के पावन सानिध्य में आयोजित सभा में समाधिमरण पर व्याख्यान।

१२-१४ अक्टूबर, जैनविश्वभारती (डीम्ड यूनिवर्सिटी) लाडनू के जैनविद्या विभाग द्वारा '**जैन दर्शन का क्रमिक विकास**' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रो. सागरमल जैन ने '**गुणस्थान सिद्धान्त**' का उद्‌भव एवं विकास विषय पर शोध-पत्र प्रस्तुत किया।

इस सेमिनार में शोधपीठ के प्रवक्ता, डा. अशोक कुमार सिंह ने जैन कर्म सिद्धान्त का उद्‌भव एवं विकास (प्राचीन जैन साहित्य के सन्दर्भ में) शीर्षक शोध-पत्र प्रस्तुत किया।

१५ अक्टूबर, आई.सी.पी.आर. के तत्वावधान में प्रो. के.एस. मूर्ति पर दिल्ली में आयोजित सेमिनार में प्रो. सागरमल जैन ने '**प्रो. मूर्तिज फिलासफी आव पीस एण्ड नान-वायलेंस**' विषय पर पत्र प्रस्तुत किया।

१६-१७ अक्टूबर, दिल्ली में आयोजित '**एफ्रो-एशियन फिलासाफिकल कान्फ्रेंस**' में प्रो. जैन ने '**कन्सेप्ट आव पीस**' शीर्षक शोध-पत्र प्रस्तुत किया।

६-७ नवम्बर, प्राकृत एवं अहिंसा शोध-संस्थान वैशाली द्वारा आयोजित द्विदिवसीय संगोष्ठी में प्रो. सागरमल जैन ने '**जटासिंह नन्दी एवं वरांगचरित**' शीर्षक शोध-पत्र प्रस्तुत किया।

इसी संगोष्ठी में डॉ. अशोक कुमार सिंह ने जैन कर्मसिद्धान्त का उद्‌भव एवं विकास (स्थानांग, समवायांग एवं भगवती के विशेष सन्दर्भ में) पत्र प्रस्तुत किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त

शोधपीठ के दो शोध छात्रों श्री रवीन्द्र कुमार एवं श्री वेंकट श्रीनिवास को एवं शोध छात्रा श्रीमती मंजुला भट्टाचार्या को दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में क्रमशः संस्कृत विभाग एवं दर्शन विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी द्वारा पी-एच.डी. उपाधि प्रदान की गयी। उनके विषय इस प्रकार हैं --

(१) डॉ. रवीन्द्र कुमार, शीलदूत एक आलोचनात्मक अध्ययन

(२) डॉ. वेंकट श्रीनिवास, जैन एवं वैखानस योग एक आलोचनात्मक अध्ययन

(३) डॉ. (श्रीमती) मंजुला भट्टाचार्या, जैनधर्म में ईश्वरवाद की समालोचना

शोक-समाचार

श्री पुखराजमल एस. लुंकड़ दिवंगत

अ.भा. श्वे. स्था. जैन कान्फ्रेंस, दिल्ली के अध्यक्ष एवं भारत जैन महामंडल के मार्गदर्शक मूलतः जलगाँव एवं वर्तमान बम्बई निवासी श्री पुखराजमल एस. लुंकड़ का ७२ वर्ष की आयु में दि. २३ दिसम्बर को प्रातः ८ बजकर ४५ मिनट पर हृदय विकार से अचानक दुःखद निधन हो गया। स्वर्गीय लुंकड़ जी की भावना के अनुसार उनके नेत्रों का दान किया गया और २४ दिसम्बर को सायन विद्युत शवदाह गृह में अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुलोचनादेवी लुंकड़ ने अत्यन्त धैर्य का परिचय देते हुए किसी प्रकार की रूढ़ि तथा आर्तध्यान को प्रश्रय नहीं दिया। कुछ महीनों पहले स्व. लुंकड़ जी ने सेवाकार्य के लिए ७१ लाख रुपयों का निजी ट्रस्ट स्थापित किया था। वे अत्यन्त उदार, मिलनसार एवं परोपकारी व्यक्ति थे। उनके निधन से समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजली एवं शोक संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमती शिमलारानी जैन दिवंगत

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ के संस्थापक अध्यक्ष स्व. श्री त्रिभुवन नाथ जैन जी की पुत्रवधू श्रीमती शिमला रानी जैन का बम्बई में ५ अक्टूबर, १९९२ को स्वर्गवास हो गया। वे अत्यन्त सरल स्वभाव वाली धर्मपरायण महिला थीं। मृत्यु के समय वे अपने छोटे पुत्र श्री महेन्द्रनाथ जैन के पास बम्बई में थीं। परिवार वालों ने उनकी स्मृति में कमरा बनवाने के लिए ५१ हजार की राशि का संकल्प किया है।

दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि एवं शोक संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

transform plastic ideas
into beautiful shape

NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to :

Nuchem PLASTICS LTD.
Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

Edited Printed and Published by Prof. Sagar Mal Jain, Director,
Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpeeth,
Varanasi-221005

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org